रंगून की जनता ने आपका स्वागत करके आपकी सेवा में चांदी की रकेबी में रखकर एक अभिनन्दन-पत्र अर्पण किया। रंगून में आपने कई महत्वपूर्ण व्याख्यान दिये, जिनमें से एक का विषय था "बुद्धदेव का सन्देश"।

आज कल स्वामी जी श्रीरामकृष्ण संघ के मुख्य केन्द्र बेलूड़ मठ में विराज रहे हैं।

स्वामी परमानन्द जी का व्याख्यान

गत १० वीं अक्टूबर को वाशिंगटन और बोस्टन की वेदान्त सभा के अधिष्ठाता स्वामी परमानन्द जी ने बोस्टन के 'अप्लाइड साइकालोजी क्लब' के सम्मुख स्टेनर्ट हाल में व्याख्यान दिया। श्रोताओं की उपस्थिति अच्छी थी। स्वामी जी के व्याख्यान को श्रोताओं ने इतना अधिक पसन्द किया कि जब उन्होंने अपना व्याख्यान समाप्त किया तो उनसे थोड़ी देर और बोलने की प्रार्थना की गई। व्याख्यान समाप्त होने पर कई प्रश्न भी किये गये। आपके व्याख्यान का विषय था "एकाग्रता का रहस्य"। व्याख्यान का इतना प्रभाव पड़ा कि बहुत से श्रोता आपके उपदेशों से लाभ उठाने के लिये वेदान्त केन्द्र में नियमपूर्वक आते लगे हैं। अक्टूबर में भी सदा की भांति दो रविवारों को उपासना आदि और मङ्गलवार को पढ़ाई हुई।

श्रीरामकृष्ण महोत्सव।

आगामी ५ वीं मार्च रविवार को श्रीरामकृष्ण मठ बेलूड़ (हवड़ा) और उसके शाखा मठों में श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव का ८७वां जन्मोत्सव मनाया जायगा। भक्त जनों की उपस्थिति प्रार्थनीय है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

—गीता।

वर्ष १] सौर फाल्गुन, सं० १९७८ [अङ्क २

श्रीरामकृष्ण के उपदेश।

निर्जन स्थान में गये बिना कठिन रोग कैसे अच्छा होगा? रोग तो है सन्निपात, और जिस घर में सन्निपात रोगी है उसी घर में इमली का अचार और पानी का कुण्डा! स्त्रियाँ पुरुषों के लिये इमली के अचार के समान हैं और भोग-वासना जल के कुण्डे के समान है। इससे क्या रोग अच्छा हो सकता है? पूर्व स्थान को छोड़, कुछ दिनों के लिये निर्जन स्थान में जाकर साधना और भजन करना चाहिये। इसके बाद निरोग होकर फिर उसी घर में रहने से कोई भय नहीं रहता।

एक दिन एक भक्त लड़के ने परमहंस देव से पूछा कि हे महाराज! काम किस भांति दबाया जाय? श्रीरामकृष्ण ने हँसकर उत्तर दिया कि सब स्त्रियों को माता की तरह देखना और उनके मुंह की ओर न देखकर पैर की ही ओर देखना चाहिये। इससे सब खराब भावनायें भाग जायंगी।

ईशु एक दिन समुद्र के किनारे टहल रहे थे। एक भक्त ने जाकर उनसे पूछा, "प्रभू ! क्या करने से ईश्वर मिलते हैं ?" उन्होंने उसे उसी समय ले जाकर जल में डुबाया और कुछ देर बाद हाथ पकड़कर निकालकर पूछा कि तुम्हारी क्या दशा हो रही थी ? भक्त ने कहा प्राण निकलें निकलें ऐसी दशा हो रही थी और दम घुट रहा था। तब ईशु ने उससे कहा—जिस समय तुम्हारे प्राण भगवान के लिये इसी प्रकार तपड़ेंगे उसी समय उनके दर्शन होंगे।

जानते हो कि प्रेम किसे कहते हैं ? जब 'हरि हरि' कहते हुए संसार को भूल जाओगे ; अपने अत्यन्त प्रिय तन का भी जब ज्ञान न रहेगा तभी समझो कि प्रेम हुआ। हरिकीर्तन में, देखते हो, जब बाजा बजता रहता है और 'कृष्ण आओ' 'कृष्ण आओ' की पुकार होती रहती हैं, उस समय कृष्ण को इन सब बातोंका कुछ ध्यान ही नहीं होता। नेपथ्य में वे मौज से तम्बाकू पीने और गप्प मारने में लगे रहते हैं। जब ये सब चीजें बन्द हो जाती हैं और नारद ऋषि—"हे मेरे प्राण-प्यारे गोविन्द"—मृदु स्वर में प्रेम से गाने लगे तब तो कृष्ण ठहर न सके ! व्यग्र होकर जल्दी २ उनके निकट पहुँच ही गये। साधकों के लिये भी यही दशा है। जब तक साधक 'प्रभू आओ' 'प्रभू आओ' चिल्लाता रहता है, तब तक समझो प्रभू वहाँ नहीं आये हैं। ज्योंहीं प्रभू वहाँ पहुँच जाते हैं साधक प्रेम के मारे गद्गद् हो जाता है और फिर नहीं पुकारता। साधक जब गद्गद् होकर पुकारता है तब प्रभू और विलम्ब नहीं कर सकते।

अहिल्या ने कहा था कि हे राम ! मुझे शूकर योनि में जन्म लेना भी स्वीकार है पर तुम्हारे श्रीचरण कमलों में मेरी अचल श्रद्धा भक्ति रहनी चाहिये और दूसरा मैं कुछ नहीं चाहती।

स्वर्गीय महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी महाशय की सास एक दिन परमहंस देव के दर्शन को गई थीं। परमहंस देव ने उनसे कहा—तुम लोग अच्छे हो। गृहस्थी में रहते हुए भी परमेश्वर में लग्न रहते हो। उन्होंने कहा- हम लोगों में तो कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है। अभी तक तो हम जिस किसी का जूठा नहीं खा सकतीं। परमहंस देव ने कहा यह क्या ! जिस किसी का जूठा खाना ही ब्रह्मज्ञान है। कुत्ते सियार भी तो सब किसीका जूठा खाते हैं, इसलिये क्या उन्हें भी ब्रह्मज्ञान हो गया है ?

जैसे एक आदमी लकड़ी इकट्ठा कर आग जला कर बैठा रहता है और पांच आदमी उसके पास आकर तापते हैं, उसी तरह साधू सन्यासी भी कठोर तप करके भगवान को जानते हैं और पांच आदमी आकर उनकी संगति में उपदेश आदि श्रवण कर भगवान में अपना मन लगाते हैं।

क्या जानते हो कि सच्चा प्रचार कैसे होता है ? लोगों को भजन करने का उपदेश न देकर स्वयं भजन से ही यथेष्ट प्रचार होता है। जो स्वयं मुक्त होने की चेष्टा करता है वही यथार्थ में प्रचार करता है। जो स्वयं मुक्त है, सैकड़ों आदमी चारों ओर से उसके पास स्वयं जाकर शिक्षा लेते हैं। इसीके दृष्टान्त स्वरूप परमहंस देव कहते थे कि फूल खिलने पर भ्रमर स्वयं ही उसपर आ बैठता है।

धर्म ।

(स्वामी अमरानन्द)

इस जगत में मनुष्य सब से उच्च प्राणी समझा जाता है। कारण इसका यह है कि मनुष्य में उन सद्गुणों का सबसे अधिक विकाश होता है जिनके रहने से जीवधारी को देवता की पदवी मिलती है। प्रेम, दया, क्षमा, धैर्य, निर्लोभिता आदि गुण मनुष्य में ही सब से अधिक परिमाण में पाये जाते हैं। हमारे मन की स्वाभाविक वृत्ति ही ऐसी है कि इन सब गुणों को देखते ही हम सिर नवा देते हैं। यह बात ठीक है कि मनुष्यों में भी ऐसे बुरे आदमी बहुत हैं जो पशुओं को भी अपनी क्रूरता से नीचा दिखाते हैं, पर हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि किसी वस्तु का गुण या दोष परखने में केवल यही देखना उचित है कि उसमें ऊँचे दर्जे के गुणों का कितना विकाश होना सम्भव है। उसके अवगुणों की फिहरिस्त बनाना उचित नहीं। इस दृष्टि से मानव-जाति को प्राणि-जगत में सब से ऊँचा स्थान हमेशा मिलता रहेगा। इसमें सन्देह करने का कुछ भी स्थान नहीं है।

अगर हम मनुष्य के इस महत्व का जरा विचार करें तो हमें यह साफ दिखाई देगा कि हर एक मनुष्य में जन्म से लेकर मरण तक दो तरह की चित्त-वृत्तियाँ लड़ती झगड़ती रहती हैं। एक तो है प्रवृत्ति, और दूसरी निवृत्ति। प्रवृत्ति कहती है कि दुनियाँ मेरे ही भोग के लिये बनी है, इसलिये जितना हो सके और जैसे हो सके भोग के ही पीछे पड़े रहना चाहिये। जीवन थोड़े ही समय के लिये है, इसमें तन मन धन से अपनी इन्द्रियों

की सेवा करने में कभी न चूकना चाहिये। इसमें यदि दूसरों को हानि भी पहुंचे तो भी कुछ परवा नहीं ; "वीरभोग्या वसुन्धरा"। इसके खिलाफ निवृत्ति बड़ी मीठी आवाज से कहती है कि भाई ऐसा दिन नहीं रहेगा। एक ऐसा समय आयेगा जब तुमको इस संसार से कूच करना पड़ेगा ; तब तुम्हारा धन, जन और ऐहिक सम्पद् कुछ काम न आयेगा। जिसमें पीछे पछताना न पड़े इसलिये समय रहते ही कुछ प्रबन्ध कर लो ; धर्म की शरण लो, क्योंकि 'धर्मो रक्षति रक्षितः'—धर्मकी रक्षा करनेसे धर्म भी तुम्हारी रक्षा करेगा। तुम्हारा यह शरीर छूट जायगा, यहां की रत्ती भर भी चीज तुम्हारे साथ नहीं जायगी पर उस कठिन मार्ग में धर्म ही तुम्हारे साथ जायगा।

ऐसा कौन है जिसने अपनी जिन्दगी में इस तरह का मानसिक संग्राम न देखा हो ? सभी को मालूम है कि सिवा निरे पशु और थोड़े से परमहंस महात्माओं के बाकी सब आदमियों को इस लड़ाई का फैसला करना जरूरी है। पशुधर्मी लोग अपनी भलाई नहीं सोच सकते और परमहंसों को उसकी जरूरत नहीं है। इन दो वर्गों को छोड़ बाकी मनुष्य बिना इसको तै किये नहीं रह सकते। जिन पर भाग्य प्रसन्न है वे तुरन्त एक न एक दिन इस प्रवृत्ति-निवृत्ति के आपस के संघर्ष का पूरा पूरा परिचय पाते हैं और अपनी अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार उनमें से एक को चुन लेते हैं। जिसमें भोग की इच्छा बहुत प्रबल है वह प्रवृत्ति ही को वरण कर लेता है और जिसमें पूर्व पूर्व जन्मों के सुकृत से वासना कुछ घट सी गई है वह प्रवृत्ति के फन्दे से भाग निकलता है और निवृत्ति के सुखद अङ्क में आश्रय लेता है। एक लिहाज से दोनों ही मार्ग से आदमी देर में या जल्दी अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंच सकता है। पर कौशल से काम लेना

है; नहीं तो संसार जैसे घोर जङ्गल से पार होना बड़ा मुश्किल है। यह कौशल क्या है और किस तरह उसका उपयोग करना चाहिये, धर्म यह बता देता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो ही धर्म के मार्ग बन सकते हैं। पहली राह से जरा चक्कर खाकर और दूसरी से सीधे लक्ष्य तक लोग पहुंच जाते हैं।

यहां प्रश्न यह होता है कि वह लक्ष्य क्या है? जरा सोचने से जान पड़ता है कि दुनियाँ में तरह तरह के मनुष्य होते हुए भी उनके चरम उद्देश में बहुत अन्तर नहीं है। वह उद्देश है परम आनन्द की प्राप्ति—ऐसा आनन्द जिसमें कभी दुःख का लवलेश न हो, जो सदा के लिये हमें प्राप्त हो रहे। उसके अलग अलग नाम हो सकते हैं, कोई उसको स्वर्ग, कोई मुक्ति, कोई ज्ञानलाभ या ईश्वरलाभ, कोई और कुछ नाम देता है, पर स्वरूप में वह एक ही चीज है। भेद जितना है वह उस उद्देश या आदर्श के पाने के उपाय में है। मनुष्य अलग अलग प्रकृति के होते हैं, इस लिये सब के लिये एक ही राह नहीं हो सकती। अगर होती तो जगत की विचित्रता मिट जाती, लोगों के विचार सब एक से हो जाते, और दुनियाँ बच्चों के से मनवाले आदमियों की जगह बन जाती। सौभाग्य की बात है कि दशा ऐसी नहीं है और अनन्त रूपवाली चिन्ता-प्रणालियां हमें नजर पड़ती हैं। मनुष्य अपने अपने स्वभाव के अनुकूल मार्ग चुन लेते हैं। कोई निष्काम कर्म अर्थात् ईश्वर-दृष्टिसे जीवमात्र की सेवा, कोई प्रतिमा आदि के सहारे से सर्वभूत के अन्तर्यामी भगवान की उपासना, कोई अष्टांग योग से चित्त को स्थिर करके कैवल्यलाभ, अथवा कोई 'नेति नेति' करके अर्थात् जगत के वस्तुओं का साधारण भौतिक रूप ठीक नहीं, इनमें ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये, इस विचार द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करने में लगा हुआ है। जो लोग

संसार के कुटुम्ब-पोषण आदि कामों में फँसे हुए हैं वे भी अगर उस उद्देश्य का खयाल रक्खें तो नित्य-प्रति के कार्यों को धर्म का साधन बना सकते हैं। "यत् यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्"—हे शिव, मैं जो कुछ काम हर रोज करता हूं, वे सब एक तरह से तेरी ही पूजा है। बात बहुत ठीक है, क्योंकि सब साधनों का विश्लेषण कर देखने पर स्पष्ट विदित होगा कि उनमें चित्त को बाहरी वस्तु या चिन्ता से हटाकर ध्येय वस्तु—ब्रह्म या परमात्मा में ले जाने का उपाय बतलाया गया है। कोई किसी के लिये सुगम है, कोई कुछ कठिन—बस। इसी वजह से अपने अपने मत को बढ़ा कर दूसरे से लड़ना सिर्फ निर्बुद्धिता और आयुक्षय है। इससे यत्नपूर्वक बचना चाहिये।

सत्य सब समय हमारे सामने ही है। जो हम उसको नहीं देख पाते इसका कारण हमारी मलिन दृष्टि है। जैसे उल्लू सूरज को नहीं देख पाता। झूठे अभिमान और स्वार्थपरता ने ही हमारी दृष्टि को रोक दिया है। जब तक ये न छोड़ दिये जायँ तब तक हमें सत्य का दर्शन कैसे हो सकता है? इसलिये हमें चाहिये कि सच्चे दिल से हम भरसक कोशिश करें जिसमें अभिमान और स्वार्थ दूर हो जायँ। अगर हम इनको पूरा पूरा छोड़ न सकें तो इनको दबाने का पूरा पूरा प्रयत्न तो अवश्य ही करें। एक बड़े महात्मा का कथन है—"जौन साधन तौन सिद्धि"—अर्थात् जो चीज पहली दशा में साधन कहलाती है वही पूर्ण परिणति पाकर सिद्धि कहलाती है। इसलिये अगर हम इस संसार के झंझट से बरी होना चाहते हैं तो हमें हर रोज लक्ष्य पर पहुंचने के लिये कुछ न कुछ कोशिश करनी लाजिमी है। ईश्वर पर प्रीति रखना, और उसीके

प्रतिरूप सब जीवों से सद्भाव रखना हमारा परम कर्त्तव्य है। पूर्व संस्कार हमको भोग्य विषयों—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द की ओर अगर खींच लें तो भी पस्तहिम्मत न होना चाहिये, धीरता के साथ इस कर्म के प्रचण्ड आवर्त्त में रहकर भी उस गन्तव्य भूमि पर थोड़ी नजर रखनी चाहिये जिसमें हम एकदम डूब न जायं, वरन् धीरे धीरे सब चोट सहन करते हुए लक्ष्य पर पहुंच जायं। ईश्वर की सृष्टि में कोई भी चीज निरर्थक नहीं। इसलिये दुःख, रोग, शोक, मृत्यु, सब अन्त में परम मित्र का काम देते हैं, क्योंकि इन्हीं की बदौलत मनुष्य ईश्वर का स्मरण करता है। नहीं तो विलास के स्रोत में कहां बह जाता। धीर वही है जो इन सब से शिक्षा पाकर पराये हित में अपना जीवन न्योछावर कर देता है और सर्व भूतमय हरि को इसी तरह प्रसन्न कर परम गति प्राप्त कर लेता है। हमारी भारतभूमि आदि काल से ऐसे धर्मवीरों की जननी होती चली आई है। इस कलियुग में भी इनकी यश रूपिणी सुरधुनि लोगों के मन का मल हर लेती है। हमें चाहिये कि हम उनके पदांकों का भक्तिभाव से अनुसरण करें। "उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्नि बोधत"—खड़े हो जाओ, मोहनिद्रा से जागो और आचार्य्य को शरण लेकर अपने स्वाभाविक ब्रह्मभाव को पूरा पूरा जान लो। तुम्हारे सामने बहुत काम पड़े हैं। आप ज्ञाता होकर दूसरे को भी सिखलाओ। पृथ्वी में ज्ञानसूर्य्य का उदय हो जाय, सब लोग आनन्द में मग्न रहें!

हिन्दूधर्म और श्रीरामकृष्ण।

(स्वामी विवेकानन्द)

शास्त्र शब्द से अनादि और अनन्त वेद का ग्रहण होता है और धर्मशासन में वेद ही एक मात्र समर्थ है। अर्थात् धार्मिक व्यवस्था में जब कोई झगड़ा पड़ता है तब वेद ही के प्रमाण से वह निपटाया जाता है।

पुराणादि अन्य धर्मग्रन्थों को स्मृति कहते हैं। ये भी प्रमाण में ग्रहण किये जाते हैं किन्तु तभी तक जब तक वे श्रुति के अनुकूल कहें, अन्यथा नहीं।

"सत्य" के दो भेद हैं:—(१) जो मनुष्य की पञ्चेन्द्रियों से ग्रहण किया जाय, अथवा तदाश्रित अनुमान से ग्रहण किया जाय; (२) जो अतीन्द्रिय सूक्ष्म योगज शक्ति द्वारा ग्रहण किया जाय।

प्रथम उपाय से संकलित ज्ञान को "विज्ञान" कहते हैं। और दूसरे प्रकार से संकलित ज्ञान को "वेद" कहते हैं। अनादि अनन्त अलौकिक वेद नामधारी ज्ञानराशि सदा विद्यमान है। सृष्टिकर्ता स्वयं इसीकी सहायता से इस जगत की सृष्टि-स्थिति और उसका नाश करता है।

यही अतिन्द्रिय शक्ति जिस व्यक्ति में आविर्भूत वा प्रकाशित हो उसीका नाम ऋषि है और उसी शक्ति के द्वारा वह जिस अलौकिक सत्य की प्राप्ति करे उसीका नाम "वेद" है।

यही ऋषित्व और वेद-द्रष्टृत्व लाभ करना ही यथार्थ धर्मानुभूति है। जब तक यह प्राप्त न हो, तब तक "धर्म" केवल जबानी

जमा खर्च है और धर्म-राज्य की प्रथम सीढ़ी पर भी हमने पैर नहीं रक्खा, यही मानना पड़ेगा।

समस्त देश, काल और पात्र में व्याप्त होने के कारण वेद का शासन अर्थात् वेद का प्रभाव देशविशेष, कालविशेष वा पात्र-विशेष तक परिमित नहीं है।

प्राणी मात्र के धर्म की व्याख्या करनेवाला एक मात्र "वेद" ही है।

अलौकिक-ज्ञान-प्राप्ति का साधन यद्यपि हमारे देश के इतिहास पुराणादि पुस्तकों में और म्लेच्छादि देशों की धर्म पुस्तकों में भी थोड़ा बहुत वर्तमान है फिर भी अलौकिक ज्ञानराशि का सब से पहले पूर्ण और अविकृत संग्रह आर्य-जाति के बीच में प्रसिद्ध "वेद" नामधारी, चार भागों में विभक्त अक्षरसमूह सब प्रकार से सब से ऊंचे स्थान का अधिकारी है और वही वेद सम्पूर्ण संसार के पूजने योग्य और आर्य वा म्लेच्छ सब की धर्म-पुस्तकों की प्रमाणभूमि है।

आर्य जाति की उक्त वेद नामक शब्दराशि के सम्बन्ध में यह भी जान लेना होगा कि उसमें जो लौकिक अर्थवाद वा ऐतिह्य (इतिहास सम्बन्धी) नहीं है वही अंश "वेद" है।

यही वेद ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड दो भागों में विभक्त है। कर्मकाण्ड की क्रिया और फल माया-अधिकृत जगत में देश, काल और पात्र के आधीन होकर परिवर्तित हुआ, होता है और होगा। सामाजिक रीति नीति भी इसी कर्मकाण्ड के ऊपर निर्भर है। इसलिये समय समय पर इसका भी परिवर्तन होता है और होगा। लोकाचार भी यदि वह सत्शास्त्र और सदाचार के प्रतिकूल न हो तो मान्य है। सत्शास्त्र निन्दित और सदाचार-विरोधी लोकाचार के अधीन हो जाना

ही आर्य जाति के अधःपतन का एक प्रधान कारण है।

ज्ञानकाण्ड वा वेदान्त भाग ही निष्काम कर्म, योग, भक्ति और ज्ञान की सहायता से मुक्ति दिलानेवाला और माया रूप समुद्र को पार कराने में नेता के पद पर प्रतिष्ठित होकर देश, काल और पात्र के बाधा-विरोध की परवाह न करता हुआ, सब लोकों में, सब देशों में और सब समयों में धर्म का एक मात्र उपदेशक होता है।

मन्वादि शास्त्रों ने कर्मकाण्ड का आश्रय ग्रहण कर देश, काल, पात्र के भेद से विचार पूर्वक समाज का कल्याण करने-वाले कर्मों की शिक्षा दी है। पुराणों ने वेदान्त के छिपे हुए तत्त्वों का प्रकाश कर अवतारादि "महान् चरित्र वर्णन" करते हुए इन तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या की है; और अनन्त भावमय भगवान के किसी एक भाव को प्रधान मानकर उसी भाव का उपदेश किया है।

किन्तु कालवश सदाचार-भ्रष्ट, वैराग्य-विहीन, एक मात्र लोकाचार में लिप्त और क्षीण बुद्धि आर्य सन्तान ने, भाव-विशेषों की विशेष शिक्षा के लिये मानो प्रतियोगी की तरह स्थित और अल्पबुद्धि मनुष्यों के लिये बहु विस्तारित भाषा में स्थूल भाव से वैदान्तिक सूक्ष्म तत्त्वों के प्रचार करनेवाले इन पुराणादि के कहे मर्म के भी ग्रहण में असमर्थ होकर अनन्त भावों के समूह अखण्ड सनातन धर्म को अनेक खण्डों में विभक्त कर, साम्प्रदायिक ईर्ष्या और क्रोध की वृद्धि करके उसमें परस्पर की आहुति देने की बराबर चेष्टा करते हुए इस धर्मभूमि भारत-वर्ष को प्रायः नर्कभूमि में बदल दिया है।

आर्य जाति का प्रकृत धर्म क्या है और निरंतर विवाद का मूल, पतनोन्मुख अनेक भागों में विभक्त, सर्वथा प्रतियोगी आचार-

युक्त सम्प्रदायों से घिरा, स्वदेशियों के भ्रम का स्थान और विदेशियों की घृणा का मूल हिन्दू धर्म नामक युगयुगान्तर-व्यापी, विखण्डित और देशकाल के योग से इधर उधर बिखरे हुए धर्मखण्डों के समूह में यथार्थ एकता कहां है, यह दिखलाने के लिये और कालवश नष्ट इस सनातन धर्म का सार्वलौकिक, सार्वकालिक, और सार्वदेशिक स्वरूप अपने जीवन में निहित करके, संसार के सम्मुख सनातन धर्म के सजीव उदाहरण स्वरूप अपने को प्रदर्शन कराते हुए लोकहित के लिये श्री भगवान रामकृष्ण अवतीर्ण हुए हैं।

अनादि-वर्तमान, सृष्टि. स्थिति और लयकर्ता के सहयोगी शास्त्र संस्कार-रहित ऋषि-हृदय में किस प्रकार से प्रकाशित होते हैं, यह दिखलाने के लिये और इस प्रकार से शास्त्र प्रमाणित होने पर धर्म का पुनरुद्धार, पुनः स्थापन और पुनः प्रचार होगा, इसलिये वेद-मूर्ति भगवान ने इस रूप में बाह्य शिक्षा की प्रायः सम्पूर्ण रूप से उपेक्षा की है।

वेद अर्थात् प्रकृत धर्म को और ब्राह्मणत्व अर्थात् धर्मशिक्षकत्व की रक्षा के लिये भगवान बारंबार शरीर धारण करते हैं, यह स्मृत्यादि में प्रसिद्ध है।

ऊपर से गिरनेवाली नदी का जलसमूह अत्यन्त वेगवान होता है और फिर उससे उठी हुई तरंग अत्यन्त फैली हुई होती है। इसी तरह प्रत्येक पतन के बाद आर्य समाज भी श्री भगवान के कारुणिक नियन्तृत्व में नीरोग होकर पूर्व की अपेक्षा अधिकतर यशस्वी और वीर्यवान होता है—यह इतिहासों से सिद्ध है।

प्रत्येक पतन के बाद पुनरुत्थित समाज अन्तर्निहित सनातन पूर्णत्व को विशेषतः प्रकाशित करता है, और सर्वभूत-अन्तर्यामी प्रभु भी अपने स्वरूप को प्रत्येक अवतार में समधिक अभिव्यक्त करते हैं।

बारबार यह भारतभूमि मूर्छापन्ना हुई है अर्थात् धर्मलुप्ता हुई है और बारंबार भारत के भगवान ने अपने अवतार द्वारा इसे पुनर्जीवित किया है। किन्तु वर्तमान विषाद-रात्रि की तरह जिसके बीतने में अब घड़ी दो घड़ी की ही देर रह गई है किसी भी अमावास्या की रात्रि ने इस पुण्य भूमि को आच्छन्न नहीं किया था। इस पतन की गम्भीरता के सम्मुख पूर्व के सब पतन गौ के खुर-चिह्न में भरे जल के समान हैं। और इसी लिये इस प्रबोधन के प्रकाश के सम्मुख पूर्व के सब पुनर्बोधनों का प्रकाश सूर्य के सम्मुख तारागण के प्रकाश के समान है। इस पुनरुत्थान के महावीर्य के सम्मुख प्राचीन काल का बारबार लब्ध वीर्य बालकों की लीला सा जान पड़ेगा।

पतनावस्था में सनातन धर्म के समस्त भाव अधिकारी के अभाव से छिन्न भिन्न होकर छोटे छोटे सम्प्रदायों के रूप में रक्षित रहते थे, और उनके अनेक अंश लोप भी हो जाते थे।

इस नव उत्थान में नवीन बल से बली मानव-सन्तान, टूटी और बिखरी हुई आत्मविद्या को एकत्रित कर उसकी धारणा और अभ्यास करने में समर्थ होगी और लुप्त विद्या के पुनः आविष्कार करने में भी समर्थ होगी। इसके प्रथम निदर्शन स्वरूप परम कारुणिक श्रीभगवान सब युगों की अपेक्षा समधिक पूर्ण, सर्व भाव-समन्वित, और सर्व विद्याओं से युक्त युगावतार के रूप में प्रगट हुए।

इसीसे इस महायुग के प्रत्यूष काल में सब भावों का मिलन होता है और यही असीम अनन्त भाव, जो सनातन शास्त्र और धर्म में निहित होते हुए भी अब तक छिपा था, पुनः आवि-

स्फुत होकर उच्चनाद से जन-समाज में घोषित होता है।

यह नव युग-धर्म समस्त जगत के, विशेषतः भारतवर्ष के कल्याण का कारण है और इस नव युग-धर्म के प्रवर्तक भगवान पूर्व के युग-धर्म प्रवर्तकों के पुनःसंस्कृत प्रकाश हैं। हे मनुष्यो! यही विश्वास करो और धारण करो।

मरा हुआ व्यक्ति फिर नहीं आता। गई हुई रात्रि फिरकर नहीं आती। चली गई बाढ़ फिर उसी रूप में नहीं लौटती। जीवात्मा दो बार एक देह को नहीं धारण करता। हे मनुष्यो! हम तुम लोगों को मुर्दे की पूजा छोड़कर जीवित की पूजा के लिये पुकारते हैं, हम तुम्हें गत की अनुशोचना त्यागकर प्रस्तुत प्रयत्न के लिये बुलाते हैं। मिटे हुए मार्ग के खोजने में वृथा श्रम न करके, अभी बनाये हुए, प्रशस्त और निकट के पथ पर चलने को बुलाते हैं; बुद्धिमानो, समझ लो!

जिस शक्ति के चैतन्य होते ही दिग्दिगन्त-व्यापिनी प्रतिध्वनि जागरित हुई है, उसकी पूर्णावस्था को कल्पना से अनुभव करो; और वृथा सन्देह, दुर्बलता और दासजाति-सुलभ ईर्ष्या-द्वेष को परित्याग कर, इस महा युग-चक्र-परिवर्त्तन में सहायक बनो।

हम लोग प्रभु के दास हैं, प्रभु के पुत्र हैं, प्रभु की लीला के सहायक हैं, यही विश्वास दृढ़ कर कार्यक्षेत्र में उतर पड़ो।

सारी हिन्दू जाति ने जो कुछ कई युगों में विचारा उसे उन्हों ने अपने एक ही जीवन में प्रत्यक्ष करा दिया। उनका जीवन मानो सब जातियों के धर्म-ग्रन्थों की जीती जागती व्याख्या है।

—स्वामी विवेकानन्द।

श्री स्वामी विवेकानन्द और उनकी माता।

(ले०—अध्यापक मनोरञ्जन प्रसाद)

(१)

सुदूर अमेरिका तथा इङ्गलैण्ड के सभ्यताभिमानी नागरिकों में वीरदर्प के साथ दण्डायमान होकर अपनी मातृभूमिके पवित्र हिन्दू-धर्म की विजय-वैजयन्ती फहरानेवाले प्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्द का नाम अनेकों हो ने सुना होगा। किन्तु जिस भुवनेश्वरी देवी के रक्त-मांस से विवेकानन्द का स्थूल शरीर निर्मित हुआ था, जिस भुवनेश्वरी देवी की गोद में उनका बाल-जीवन व्यतीत हुआ था, उस भुवनेश्वरी देवी का नाम भी सम्भवतः हममें से अधिकांश ने नहीं सुना होगा। किन्तु हमें याद रखना चाहिये कि स्वामी विवेकानन्द का नाम भी हम लोग न सुन पाते यदि उनकी माता भुवनेश्वरी देवी न होतीं। स्वामी विवेकानन्द का धर्मोत्साह, उनकी कर्त्तव्य-प्रियता, उनकी मर्दानगी एवं उनकी निर्भीकता, इन सब गुणों का अङ्कुर उनके हृदय में उत्पन्न करनेवाली उनकी माता ही थीं। बड़े होने पर स्वामीजी ने यह मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि अपने आध्यात्मिक जीवन के लिये मैं अपनी माता का ही ऋणी हूँ। किन्तु अकेले स्वामीजी ही इस प्रकार के ऋणी हुए हैं ऐसी बात नहीं है। संसार के जितने ही महापुरुष हुए हैं सभी अपने भविष्य-जीवन के लिये अपनी माता ही-के ऋणी हैं; उन्हें बड़ा बनाने में अधिक भाग उनकी माता ही का है। संसार का इतिहास इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है।

इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द को भी स्वामी विवेकानन्द बनानेवाली उनकी माता ही थीं। अहा, कैसे सरल तथा मर्म-स्पर्शी होते हैं शिक्षा के वे शब्द जो माता के हृदय से बहिर्गत होते हैं। शिक्षा तो प्रायः प्रत्येक माता देती ही है पर किसी किसी के साथ उनके पवित्र चरित्र की अद्भुत शक्ति का समावेश रहता है और किसी के साथ नहीं। जिन माताओं में यह शक्ति रहती है उन्हीं माताओं की कोख से वे मनुष्य उत्पन्न होते हैं जिन्हें संसार बड़ा कहता है। स्वामी विवेकानन्द की माता में भी वही शक्ति थी।

भुवनेश्वरी देवी बड़ी ही पवित्र आत्मा थीं। उनका रहन सहन, उनकी चाल-ढाल ऐसी थी जैसी बड़ी रानियों की होती है। सारी उम्र वे रानी ही रहीं। कई स्त्रियाँ ऐसी होती हैं जो सङ्कोच में ही बड़प्पन समझती हैं। किन्तु, भुवनेश्वरी देवी में वह बात न थी। वे अपने को समझती थीं और जानतीं थी कि उनमें कितना तेज है और वास्तव में जो उनके निकट खड़ा रहता था उसे मालूम होता था मानो वह किसी राजमहिषी के सामने खड़ा है।

भुवनेश्वरी देवी के पति श्रीयुत विश्वनाथ दत्त भी अपनी स्त्री के योग्य ही पति थे। उनका भी स्वभाव बड़ा ही निर्भय तथा उदार था। स्वामी विवेकानन्द अपने भावी जीवन के लिये अपने पिता के निकट भी कुछ कम ऋणी नहीं थे। उनकी मर्दानगी, उनकी दानशीलता एवं उनकी उदारता बहुत कुछ उन्हें अपने पिता से ही प्राप्त हुई थी।

अस्तु; ऐसे थे स्वामी विवेकानन्द के माता और पिता। कलकत्ते के शिमला पल्लीस्थ एक बड़े मकान में दम्पति आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। आमदनी भी अच्छी ही थी पर

खर्च भी कुछ कम नहीं था क्योंकि स्त्री पुरुष दोनो ही के हाथ खुले हुए थे। सिवाय एक चीज के उन्हें कभी किसी भी चीज की कमी नहीं थी और वह कमी थी एक पुत्र-रत्न की। दो लड़कियाँ थीं सही, पर जब तक एक पुत्र नहीं होता तब तक हिन्दू-गृहस्थ की आत्मा को सन्तुष्टि नहीं होती। वह समझता है कि वह पितृ-ऋण से उऋण नहीं हुआ। विशेषतः स्त्रीजाति को जब तक पुत्ररत्न उत्पन्न नहीं होता तब तक वह अपने जीवन को निरर्थक ही समझती है। जिसमें पुत्र-प्राप्ति हो इसके लिये मातायें किस प्रकार प्राणपण से भगवान की पूजा करती हैं और मन्नतें मानती हैं वह उनका हृदय ही जानता है। श्रीमती भुवनेश्वरी देवी भी इस विषय में निर्लेप नहीं थीं।

उन दिनों बनारस में उसी परिवार की एक वृद्धा रहती थीं। भुवनेश्वरी देवी ने उन्हींके पास देवादिदेव महादेव के निकट नित्य प्रार्थना करने को लिख भेजा जिसमें उस परिवार में एक पुत्र-रत्न की उत्पत्ति हो। इतना ही करके वे चुप नहीं रहीं बल्कि स्वयं भी नित्य प्रति प्राणपण से भगवान शिव की पूजा करने लगीं।

सच्चे हृदय की प्रार्थना कभी अस्वीकृत नहीं होती। अस्तु; एक दिन रात को जब भुवनेश्वरी देवी सोई थीं उन्हें ऐसा स्वप्न हुआ मानो भगवान शिव स्वयं ही आकर उनसे कह रहे हैं कि मैं तुम्हारा पुत्र होकर जन्म ग्रहण करूंगा। कुछ महीने बाद वह स्वप्न सफल हुआ। भुवनेश्वरी देवी के गर्भ से एक पुत्ररत्न की उत्पत्ति हुई। उस दिन अंगरेजी सन् १८६३ के जनवरी महीने की बारहवीं तारीख थी और उसी के अनु-सार बँगला पौष मास का अन्तिम दिन था। उस दिन सारे बंगाल में आनन्द की लहर बह रही थी। किन्तु, दत्त परिवार

में तो सचमुच आनन्द की बाढ़ ही आ गई थी। उसकी खुशी का क्या कहना है। कुछ ठिकाना नहीं था। लोग सोचने लगे क्या नाम रखा जाय। कोई कुछ कहता था और कोई कुछ। माता से पूछा गया तो उसने लड़के का नाम रखा वीरेश्वर और वही उस लड़के की राशि का नाम हुआ; पीछे जब नामकरण का समय आया, उस समय वीरेश्वर का नाम रखा गया—नरेन्द्रनाथ दत्त। यही नरेन्द्रनाथ पीछे जाकर स्वामी विवेकानन्द हुए।

(८)

नरेन्द्र लड़कपन से ही बड़े उधमी थे। जब किसी बात पर जिद करके चिल्लाने लगते थे अथवा मचल जाते थे तो फिर किसकी मजाल थी जो उनको शान्त कर लेता। किन्तु माता ने उसके लिये भी दवा ढूँढ़ रखी थी। जब डाँट डपट से काम नहीं चलता था तो अपने लड़के को पानी के कल के नीचे खड़ा करके सिर पर पानी की धारा गिराने लगती थीं और साथ ही साथ शिव शिव की मधुर ध्वनि भी करती जाती थीं। जब वे शान्त हो जाते थे तो परिवार के लोगों से कहती थीं कि 'मैंने शिव से एक पुत्र माँगा और उन्होंने मेरे लिये अपना एक गण भेज दिया।" बहुत दिनों के बाद अपने बुढ़ापे में भी उन्हें वे बातें याद थीं और बराबर वे उन बातों को स्वामीजी के पाश्चात्य शिष्यों से कहा करती थीं। इस पर हँसी भी खूब ही होती थी। यदि कोई शिष्य पूछ बैठता था कि क्या वास्तव में बड़े ही उत्पाती थे तो वे मुस्कुराकर जवाब देती थीं "अरे मत पूछो उसके लिये मुझे बराबर दो धाइयाँ रखनी पड़ती थीं।"

इस प्रकार से बराबर अपने पुत्र का लालन पालन करती

हुई उन्हें बड़ा बनाने लगीं और साथ ही साथ उन्हें शिक्षा भी देने लगीं। यद्यपि नरेन्द्र के बाद उन्हें दो पुत्र और हुए पर नरेन्द्र ही उनके प्राण थे।

भुवनेश्वरी देवी की स्मरणशक्ति बड़ी ही प्रखर थी। लोग कहते हैं कि रामायण और महाभारत के प्रायः सभी पद्य उन्हें याद थे। उन्हीं दिव्य ग्रन्थों की कहानियाँ सुनाकरके उन्होंने नरेन्द्र में वह जात्याभिमान का भाव पैदा कर दिया था जिसकी घोषणा वे स्वामी विवेकानन्द होने पर भी बराबर करते रहे।

माता भुवनेश्वरी की शिक्षायें अनमोल होती थीं। उनका सार था 'कभी भी छोटे मनुष्यों सा वर्त्ताव न करो, ऊँची २ बातें सोचा करो, कर्त्तव्य ठीक से पालन करो।" वे कहा करती थीं कि "मरते दम तक सत्य पर डटे रहो, हटो नहीं। पवित्र बनो, उच्च बनो, दूसरों के हृदय के भावों पर आघात न पहुँचाओ, दूसरों की स्वाधीनता में हस्तक्षेप न करो, नम्र बनो हद दर्जे के, पर जब समय आ पड़े तो चट्टान जैसे दृढ़ हो जाओ और अपने स्थान से हिलो नहीं।" बड़े होने पर भी नरेन्द्र को वे बातें भूली नहीं बल्कि वे उनके जीवन के अंग सदृश हो गईं।

नरेन्द्र लड़कपन से ही अपनी माँ को बहुत मानते थे। जब कभी कुछ होता था तो अपनी माता के ही निकट हृदय का दुःख रोकर आश्वस्त होते थे। एक दिन की बात है कि नरेन्द्र पर बहुत मार पड़ी। शिक्षक ने उनसे भूगोल का एक प्रश्न पूछा, नरेन्द्र ने उसका उत्तर दिया। शिक्षक ने उसे गलत बतलाया, किन्तु नरेन्द्र को पूरा विश्वास था कि मैं ठीक कह रहा हूं। वे अभी अपनी बात पर डटे रहे। अन्त में शिक्षक महाशय आपे से बाहर हो गये और बोले—हाथ पसारो।

नरेन्द्र ने तत्क्षण ही आज्ञा का पालन किया। एक, दो, तीन--कई बेंत लग गये। नरेन्द्र चुप रहे, कुछ भी नहीं बोले। थोड़ी देर बाद शिक्षक को अपनी भूल मालूम हुई और उन्होंने नरेन्द्र से माफी माँगी और तब से बराबर उनकी इज्जत करने लगे। एक बार और भी ऐसा ही हुआ कि सामान्य अपराध के कारण नरेन्द्र को बहुत मार खानी पड़ी। दोनों ही बार वे अपनी माता के पास गये। माता ने आश्वासन देते हुए कहा था, "क्या हुआ बेटा, यदि तुम सत्य के पथ पर हो तो फिर परवाह किस बात की है? दूसरों को चाहे बुरा लगे पर तुम जो ठीक समझते हो तो उस पर ही डटे रहो, हटो नहीं, चाहे जो हो।" अपने परिणत वयस में भी नरेन्द्र ने उन बातों को याद रखा और उनका पालन करते रहे। कई बार उन्होंने कष्ट सहे। कई बार उनके स्वजन ही विरोधी बन गये पर वे अपनी बात पर डटे रहे। जिस बात को ठीक समझा उससे हटे नहीं। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द के हृदय में उन दृढ़ भावों की जड़ रोपनेवाली उनकी माता ही थीं।

और एक दिन की बात है। उस समय नरेन्द्र की उम्र छः वर्ष की थी। वे अपने एक साथी के साथ शिवमूर्ति खरीदकर किसी मेले से लौटे आ रहे थे। एकाएक उनके कानों में घर्घराहट की आवाज आई। फिर कर देखा, सर्वनाश! उनका साथी घोड़े के पैर के नीचे पिस जाने पर है। बस, पल भर की देरी नहीं लगी, शिवमूर्त्ति को बाईं बगल में दबाकर नरेन्द्र विद्युत गति से कूद कर उसके पास पहुंचे और झट उसे खींचकर किनारे कर दिया। अपने प्राणों की भी परवाह न की। यह फुर्ती देखकर लोग हक्का बक्का रह गये। इतने कम समय में सारा काम हुआ, 'काहु न लखा देखि सब ठाढ़े।' किसीने उनकी पीठ ठोंकी और किसीने आशीर्वाद दिया। नरेन्द्र अपनी माता के पास आये और सारी बातें उनसे कहीं। माता की आँखों से आनन्द के आँसू बहने लगे। उसने रुद्ध कण्ठ से कहा "बेटा! मर्द बनो।" मरते दम तक नरेन्द्र को यह बात याद रही और उन्होंने अनेकों को यही उपदेश दिया--'मर्द बनो।'

लड़कपन ही से नरेन्द्र का स्वभाव बड़ा उदार था। कोई भी याचक खाली हाथ उनके सामने से लौटने नहीं पाता था। घर के लोग तंग रहते थे। यहाँ तक कि जहाँ कोई साधु देखा, नरेन्द्र को कोठरी में बन्द कर दिया, पर तो भी वे किसी न किसी तरह से कुछ न कुछ दे ही देते थे। नरेन्द्र की यह उदारता भी उनकी माता ही की सम्पत्ति थी। भुवनेश्वरी देवी बड़ी ही उदार थीं। एक बार नरेन्द्र के पिता ने अपनी स्त्री के नाम से एक मुसलमान-परिवार का घर रेहन लिखाकर उसे कुछ रुपये कर्ज दे दिये थे। कर्ज चुकाने का समय आ गया पर उन बेचारों के पास रुपये कहाँ जो कर्ज चुकाते। वे रोते रोते भुवनेश्वरी देवी के पास पहुंचे और अपना सारी कहानी सुनाकर फूट-फूट कर रोने लगे। भुवनेश्वरी देवी ने चुपचाप सब सुना और बात समाप्त हो जाने पर बिना कुछ टीका टिप्पणी किये ही दस्तावेज उनके हवाले कर उन्हें कर्ज से मुक्त कर दिया। भला जिसकी माता ऐसी उदार हो वह पुत्र कैसे न उदार होता? अस्तु।

(२)

नरेन्द्र का बाल्य-जीवन बड़े ही आनन्द से बीता, पर दिन किसी के भी सदा एक से नहीं रहते। नरेन्द्र के भाग्य ने भी

पलटा खाया। एक दिन रात को जब वे अपने एक मित्र के यहाँ गये थे, एक आदमी दौड़ता हुआ उनके पास पहुंचा और उन्हें खबर दी कि हृत् रोग के कारण उनके पिता का प्राणान्त हो गया। यह क्या? अनभ्र वज्रपात!! नरेन्द्र पर तो मानों विजली गिर पड़ी! पर करते क्या? दौड़ा दौड़ घर आये और यथाविधि अपने पिता का अन्तिम संस्कार किया।

अब दुर्भाग्य के दिन आये। श्री विश्वनाथ दत्त कुछ विशेष सम्पत्ति छोड़ कर मरे नहीं थे। अब परिवार का भरण-पोषण कैसे हो? नरेन्द्र चारों ओर नौकरी की खोज में फिरने लगे पर विपत्ति में कौन किस का साथी होता है? अपने भी पराये हो गये। उस समय की बातें लिखने योग्य नहीं हैं। याद करके कलेजा काँप उठता है। उस समय भी भुवनेश्वरी देवी के धैर्य ने उनका साथ नहीं छोड़ा। जिस कुशलता के साथ वह घर का प्रबन्ध करती थीं, उसे देखकर कोई भी नहीं कह सकता था कि उनका परिवार किसी बुरी हालत में है पर लिफाफा कब तक चल सकता है? कई शाम फाके की नौबत आ पहुंची और अन्त में एक दिन लाचार होकर कहना ही पड़ा कि 'अब क्या होगा, नरेन्द्र! घर में तो कुछ भी नहीं है।' यह सुनकर नरेन्द्र की कैसी अवस्था हुई होगी यह कौन कह सकता है? उसी दिन रातों रात दौड़कर वे दक्षिणेश्वर अपने गुरुदेव के पास गये और अन्त में उनसे अपने परिवार के लिये खाने कपड़े का वरदान लेकर ही निश्चिन्त हुए।

उस विपत्ति के दिनों के कारण माता पुत्र और भी हिलमिल गये। सन्यासी होने पर भी नरेन्द्र अपने को उस दृढ़ प्रेम-बन्धन से मुक्त न कर सके। उस समय तो माता ही के निकट जाकर आश्वस्त होते थे। एक समय मद्रास में उन्हें ऐसा

मालूम हुआ कि माता की तबीयत खराब है। तत्क्षणात् जवाबी तार भेजा और जब तक कुशल समाचार नहीं मिला तब तक चिन्तित ही रहे।

अन्त में वह समय आ गया जब पुत्र सब स्नेह को छोड़कर माता से अलग हो गया। नरेन्द्र स्वामी विवेकानन्द हो गये। घर द्वार छोड़कर गायब हो गये, दुर्गम जङ्गलों में तथा गहन पर्वतों में, देश-विदेश में घूमने लगे। किसी को पता नहीं चला कि वे क्या हुए।

आखिर सन् १८९३ ई० में अमेरिका के सभ्यताभिमानी नागरिकों का गर्व धूल में मिलाते हुए जब एक हिन्दू सन्यासी ने भारत के पवित्र धर्म का सिक्का पाश्चात्य देशों पर जमा दिया, उस समय विवेकानन्द का नाम देश देशान्तर में गूंज उठा। चार वर्ष के बाद जब वे देश लौटे तब जननी जन्मभूमि ने कलेजा खोलकर अपने नवीन सन्यासी का स्वागत किया और देश के युवकों ने स्वयं उस की गाड़ी का घोड़ा बनकर अपूर्व उत्साह दिखलाया। उस समय माता भुवनेश्वरी देवी का कलेजा मातृगर्व से कितना फूल उठा होगा, कौन कह सकता है?

उन्होंने सब देखा, पुत्र की महिमा, पुत्र का गौरव। पर अन्त में वह दिन भी देखा जब कि पुत्र की स्थूल देह चिता पर धू धू करती हुई जल रही थी। भुवनेश्वरी देवी उसके पार्श्व में ही खड़ी होकर प्रार्थना कर रही थीं। मनुष्यता के नाते उनकी आँखों से आँसू गिरे सही पर उनका हृदय शान्त था। वे जानती थीं कि यह मृत्यु नहीं बल्कि अनन्त शान्ति तथा आनन्द है।

पुत्र के मरने के नौ वर्ष बाद माता का शरीर-पात हुआ। उस दिन सन १९१४ ई० की जुलाई की पच्चीसवीं तारीख थी। श्री श्री जगन्नाथ यात्रा से लौटकर वे बीमार पड़ गईं और अन्त में उसी बीमारी के कारण उनका प्राणान्त भी हुआ। स्थूल देह चिता पर जलकर भस्म हो गई, किन्तु उनकी आत्मा परब्रह्म परमात्मा में जाकर मिल गई।

इस प्रकार माता भुवनेश्वरी देवी की जीवन-लीला का अन्तिम पर्दा भी गिर गया। अपनी हतभागिनी मातृभूमि की प्यारी कन्याओं के लिये अपना उज्ज्वल दृष्टान्त छोड़कर वे परलोक को चल बसीं।

स्वामी विवेकानन्द की शिक्षायें।

(साहित्यशास्त्री पं० रामप्रसाद पाण्डेय विशारद)

अद्भुत और अनुपम शक्तिशाली जिस महापुरुष ने भारत ही नहीं सूदूरस्थ अमेरिका इङ्गलैण्ड प्रभृति पाश्चात्य देशों में भी अपने अटल अध्यवसाय और अप्रतिहत उद्योग से भारत के एकमात्र धन—धार्मिक उन्नत सिद्धान्तों की विजय वैजयन्ती १८९३ के अमेरिका की धार्मिक महासभा में फहराकर सदा और सर्वदा के लिये इस दीन देश का मुख उज्ज्वल कर दिया उसकी ६० वीं जयन्ती बड़े समारोह के साथ हाल में ही श्रीरामकृष्ण संघ के बेलूड़मठ आदि अनेक केन्द्रों में सुसम्पन्न हुई है। ऐसे शुभ अवसर पर यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उसकी समुचित कर्तव्यपथनिर्धारिणी शान्तिदायिनी शिक्षाओं के महासागर में से दो चार बूंदों का पाठकों को रसास्वादन कराया जाय।

संसार में जिधर देखिये उधर ही हाहाकार मचा हुआ है। ईर्ष्या, द्वेष, तुच्छता, तिरस्कार और मनोमालिन्य के भाव सर्वत्र अड्डा जमाये हुए हैं। हम सब एक दूसरे को किसी न किसी प्रकार ध्वंस करने के उपाय सोचने में ही अपने मस्तिष्क की उन्नति की पराकाष्ठा समझते हैं। ये विचार धर्मप्रचारकों, व्यापारियों, राजनीतिक आन्दोलकों सभी के हृदयों में किसी न किसी रूप से वर्तमान अवश्य हैं। धर्मप्रचारक तो इसी बात को सिद्ध करने में लगे रहते हैं कि संसार के समस्त धर्मों की अपेक्षा उनका ही धर्म सत्य और सर्व-श्रेष्ठ है और इसीके द्वारा इस संसार में सुख-लाभ और ऐहिक उन्नति तथा परलोक में आवागमन आदि अनेक सांसारिक क्लेशों से छुटानेवाले कैवल्य की प्राप्ति हो सकती है, दूसरे धर्मों के द्वारा नहीं। इस प्रकार के भावों का एक मात्र कारण यह है कि उनके हृदयों में द्वैत भाव घुसा है और वे प्राणिमात्र को एक समझने और उसी सच्चिदानन्द परब्रह्मपरमात्मा का रूप मानने के लिये तैयार नहीं। जब हम गीता में स्पष्ट लिखा पाते हैं—ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्, तो धर्मप्रचारकों की उक्त थोथी बात की सारवत्ता कहां तक है इसे समझाने के लिये क्या हमें और दलीलें पेश करने की जरूरत है? इसी द्वैत भाव को अपने शुष्क और नीरस हृदयों में से निकालकर संसार के समस्त जीवों में, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, बच्चा हो या वृद्ध, उच्च अट्टालिका में नाना प्रकार के भोगों का आनन्द लेनेवाला धनी हो या झोपड़ों में अकेला पीड़ा से कराहनेवाला दुःखी दरिद्र, अनेक सभाओं में अपनी विद्वत्ता प्रकाशितकर लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान हो या काला अक्षर भैंस बराबर समझनेवाला महा मूर्ख, सभी में उसी नारायण की प्रतिमूर्ति का दर्शन करने की शिक्षा श्री

स्वामी विवेकानन्दजी ने हमें दी है। अपनी ही महत्ता सिद्ध करने के लिये व्यर्थ का वितण्डावाद न उठाकर, सब को अपनी अपनी भावनाओं के अनुसार उस परात्पर परमब्रह्म परमात्मा की उपासना करने का और अपने जीवन को उन्नत बना, अन्त में कैवल्य-प्राप्ति का उपदेश स्वामीजी ने दिया है। जब हमारा लक्ष्य एक है तो भिन्न भिन्न पथों का अवलम्बन करते हुए भी हम उस तक अवश्य पहुंच जायंगे,—इस सत्य ज्ञान की अज्ञानता ही संसार के सभी दुःख और क्लेशों का मूल है। कारण कि इसी अज्ञानतावश हममें नाना प्रकार के भेद-भाव और कुभावनायें उत्पन्न हो जाती हैं जो हमारे अभ्युत्थान में कठिनाइयाँ ही नहीं उपस्थित करतीं वरन् हमारी उन्नति की वाधक हो जाती हैं। इस अज्ञान को सत्य ज्ञान के उपदेश से हटाने का प्रयत्न करना महात्माओं का काम है जिसे स्वामी विवेकानन्द ने भलीभांति पूरा किया। आपका कहना था कि धर्म के वाह्याडम्बरों को हटाकर उसके (धर्म के) सत्य-स्वरूप को प्राप्त कर किसीसे भेदभाव न रखते हुए अपनी उन्नति करने से ही भारत की सच्ची धार्मिक उन्नति होगी। हमें कूपमण्डूकवत् अपनी चहार दिवारी में ही आवद्ध न रहकर अन्य महाद्वीपों से आवश्यक ऐहिक शिक्षा ग्रहण करनी होगी जिससे भारतवर्ष में जो अन्न-वस्त्र का हाहाकार है वह दूर हो जाय। यह अभाव दूर होते ही हममें जो प्रौढ़ धार्मिक शक्ति अन्तर्निहित है उसका स्वतः पुनःस्फुरण हो जायगा और हम उन महाद्वीपों से प्राप्त ऐहिक शिक्षा के बदले में उन्हें अपने धर्मप्रचारकों को भेजकर अपने उन्नत दार्शनिक विचार सिखाने में समर्थ होंगे। भारत को उन्नत बनाने के लिये हमें प्राच्य और पाश्चात्य का सङ्गम कराना आवश्यक है।

आपका विश्वास था कि भारत का कल्याण सेवाधर्म स्वीकार करने से ही होगा। सेवा धर्म की महत्ता बताने के लिये मद्रास में व्याख्यान देते समय आपने कहा था, "By being the servant of all the Hindu seeks to uplift himself and that is how a Hindu should uplift the masses" जीव के प्रति दया-भाव रखना एक बात है और उसके प्रति सेवा का भाव होना दूसरी बात। हृदय में दया का भाव उत्पन्न होने से दयनीय दुःखी दरिद्र को एक पैसा देकर उपकृत करते हुए हमारे हृदय में यह भाव उत्पन्न होता है कि हम श्रेष्ठ हैं और यह हमसे बहुत छोटा है। पर स्वामीजीने उस दयनीय दरिद्र में उस नारायण की प्रति मूर्ति देखते हुए "दरिद्र नारायण" की सेवा करने का उपदेश दिया है अर्थात् सहायता के लिये हाथ बढ़ाते समय हमारे हृदय में यह भाव होना चाहिये कि सेव्य सदा सेवक से श्रेष्ठ है। इस प्रकार का भाव लेकर अपने गिरे हुए भाइयों को उठाने से हमारा कल्याण होगा। स्वामीजी निम्नस्थ पद-दलित जातियों को उन्नत बनाकर, न कि उन्नत जातियों को नीचा करके, सब में एकता का भाव स्थापित कर भारत को उन्नत बनाने के पक्षपाती थे। आप सुधार के पक्षपाती न थे। आप उन्नति चाहते थे। इसे आपने स्पष्ट कहा भी है–I do not believe in reform, I believe in growth. आप का कहना था कि उत्थान के बाद पतन और फिर उस पतनावस्था से ही पूर्वापेक्षा कहीं अधिक महत्त्वशाली अभ्युत्थान होता है। इस अभ्युत्थान के लिये पतन आवश्यक है। उदाहरणार्थ, एक विशाल वृक्ष में बहुत ही मनोमुग्धकर मँजरियां लगकर फूल खिलते हैं, उनसे मन को लुभानेवाले हरे लाल पीले फल उत्पन्न हो उस वृक्ष की शाखाओं को सुशोभित करते हैं। पर ध्यान

रहे कि इस प्रकार के बहुसंख्यक वृक्षों और फलों का अविर्भाव होने के लिये यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि वे फल मुरझाकर पेड़से अपना नाता रिश्ता तोड़ धराशायी हों और उन्हीं सड़े-गले फलों के बीज से नये वृक्ष जो पहले वृक्ष से कहीं अधिक पुष्ट, उन्नत और विस्तीर्ण होंगे, उत्पन्न हों। इसी प्रकार यह भारतवर्ष, जिसमें सब से पहले ज्ञान का आविर्भाव हुआ था, जिसने अपने ज्ञान-सूर्य के प्रकाश से ग्रीस आदि पाश्चात्य देशों को चकित, विचलित और स्तम्भित कर गुरुत्व-पद की प्राप्ति की थी, जहां आत्मा के अजर, अमर और निरीह होने की सब से पहले गम्भीर गवेषणा हुई थी, वर्तमान दुःख और क्लेशकर अवस्था को इसी लिये उस, चक्रवत् परिवर्तन्ते' के अटल नियम के अनुसार प्राप्त हुआ है कि वह अपने धार्मिक-ज्ञान-सूर्य की रश्मियों से पुनः संसार को देदीप्यमान कर दे। इसका स्वामी-जी को अटल विश्वास था। उन्होंने कहा है —This is the land from whence once more such tides must proceed in order to bring life and vigour into the decaying races of mankind. पर यह सब समुचित रूप से सुसम्पन्न होने के लिये आवश्यकता है स्वार्थहीन, सब प्रकार की सेवाओं के लिये तैयार और सब में उस नारायण की प्रतिमूर्ति देखने-वाले बड़े युवक-संघ की जो भारत के उन अभावों की पूर्ति कर सकें जिनकी उसे इस नये अभ्युत्थान के लिये आवश्यकता है। ऊपर बताये गये "दरिद्र नारायण" की सेवा के अतिरिक्त आवश्यकता है मूर्ख नारायण को शिक्षित और उन्नत बनाने की। आवश्यकता है सब में श्रद्धा और भक्ति के भाव उत्पन्न कराने की। आवश्यकता है गिरे और पददलितों को उठाने की।

प्रत्येक देश की सम्पूर्ण जनता एक सी नहीं होती, पढ़े लिखे

सुविचारवान कम होते हैं और अपढ़ विवेकहीन प्राणियों की संख्या अत्यधिक होती है। यह नियम एक किसी देश-विशेष के लिये नहीं वरन धरातल पर के सभी देशों के सम्बन्ध में एक ही प्रकार से लागू है। जापान, अमेरिका, इङ्गलैण्ड प्रभृति अन्य देशों ने तो प्रारम्भिक शिक्षा आवश्यक और अनिवार्य करके साधारण जनता को उन्नत कर लिया पर हतभाग्य हमारे भारत में सर्वत्र ही उस अज्ञानान्धकार का अटल साम्राज्य है। यहां की सर्वसाधारण जनता पढ़ी लिखी नहीं है, उसमें शिक्षा के प्रति प्रेम का भी अभाव है; यही कारण है कि भारत की औसत शिक्षा ढाई प्रति शत के लगभग है। स्वामीजी सार्वजनिक शिक्षा के पक्षपाती ही नहीं, उसके अत्युत्कट पोषक थे। आपका कहना था कि राष्ट्रीय प्रणाली से सर्वसाधारण को शिक्षित बनाने से ही भारत का कल्याण होगा। आप स्त्री-शिक्षा के भी पक्ष में सदा सम्मति दिया करते थे और कहा करते थे कि देश के भावी स्तम्भ जिनकी गोद में पलते हैं वे मातायें यदि मूर्ख बनी रहेंगी तो सन्तान कैसे सुशिक्षित होगी? अतः किसी देश को उन्नत विचारशील पुरुषरत्नों से भरना है तो माताओं को अवश्य शिक्षित बनाना होगा। अपने इस कथन की पुष्टि में वे अपना उदाहरण देते थे और कहते थे कि हममें बहुत सी शक्तियां हमारी माता ही की दी हुई हैं। स्वामीजी का यह भी कहना था कि हमारी शिक्षा का मूलमंत्र धर्म होना चाहिये, हमें अपने धर्मतत्वों से अलग करनेवाली शिक्षा हमारा कल्याण और अभ्युत्थान करने की अपेक्षा हमें रसातल-गामी बना देगी। स्वामीजी की उक्त शिक्षा का पालन कर, धार्मिक आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा दे देश के मूर्खनारायणों को उन्नत बनाना हमारा कर्तव्य होना चाहिये।

स्वामीजी का कहना था कि भारत की वर्तमान अवनति का एक प्रधान कारण भारतवासियों के हृदयों में उस परम पवित्र नामवाली "श्रद्धा" का अभाव है जिसके सहारे प्रसिद्ध नचिकेता ने मृत्यु के दर्वाजे पर तीन दिन धरना देकर अपने अभीष्ट कीप्राप्ति की थी। मनुष्य का परस्पर भेदभाव सिखानेवाला इस श्रद्धा का अभाव ही है। एक मनुष्य को उन्नत और पुष्ट तथा दूसरे को निर्बल और शक्तिहीन बनानेवाली यह श्रद्धा ही है। मनुष्य जैसा सोचता है कीट-भृंगी-न्याय से उसका अपनी चिन्ता के अनुरूप ही हो जाना निश्चित है। पाश्चात्य देशवासियों ने जो कुछ भी भौतिक उन्नति की है उन सब का कारण उनके हृदयों में इस श्रद्धा की स्थिति ही है। शास्त्र में भी लिखा है कि "श्रद्धया सत्यमाप्यते" अर्थात् इसी श्रद्धा के सहारे हम उस एकमात्र सत्य अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति कर सकते हैं। जब इसके सहारे हम उस परम पद तक पहुंच सकते हैं तो इसकी सहायता से सांसारिक विषयों में उन्नति प्राप्त करना तो बायें हाथ का खेल ही है। पाश्चात्य देशवासियों ने जब इस श्रद्धा के सहारे अपने शारीरिक बल पर विश्वास करके इतनी उन्नति की है तो स्वामीजी का कहना है कि आध्यात्मिक शक्तियों पर विश्वास रखनेवाले हम भारतवासी अवश्य ही इसके सहारे अपनी अन्तर्निहित शक्तियों का विकाश कर दुःख से घिरी इस भारत भूमि को पुनः धनधान्य से पूर्ण, सब सुखों का केन्द्र बनाने में समर्थ होंगे।

संसार के समस्त धर्मों से सहानुभूति रखते हुए और स्वधर्म में अटल निष्ठा रखकर ही स्वयं वास्तविक मनुष्यत्व प्राप्त कर और दूसरों को उसे प्राप्त करने में सहारा दे यदि हम भारत के हित-साधन में दत्त-चित्त हो जायंगे तो स्वामीजीके कथनानुसार उसका पहले से सुमहत्तर उन्नत होना अवश्यम्भावी है।

मीरा बाई।

(ले०—श्रीमती दुर्गा देवी वर्मा।)

कुछ मनुष्यों की यह धारणा है कि ईश्वर के जितने उत्कृष्ट भक्त पुरुष हो सकते हैं उतनी स्त्रियां नहीं। इस पक्षपातयुक्त धारणा को अपनी अनुपम ईश्वरभक्ति का परिचय देकर कई बार रमणियों ने निर्मूल ही नहीं असत्य भी प्रमाणित कर दिया है। हिन्दू शास्त्रों में यह भली भांति प्रतिपादित है कि ईश्वरभक्ति का जितना अधिकार पुरुषों को है उतना ही स्त्रियों को। जब आत्मा का कोई लिङ्गविशेष हो ही नहीं सकता तब ईश्वर-भक्ति में स्त्री पुरुषका समान अधिकार न मानकर, इस भेदभाव-रहित पदार्थ को केवल पुरुषों की सम्पत्ति मानना, स्त्रियों की नहीं, यह कहां तक उचित है, यह भी एक विचारने की बात है। पुरुषों की भांति स्त्रियों ने भी अपने निर्मल चरित्र और भक्ति से एक नहीं, कई बार उस सत्य ज्ञान की प्राप्ति की है। कहना नहीं होगा कि इस धरातल पर की भक्त स्त्रियों का अधिक भाग इस भारतवर्ष ने ही उत्पन्न किया है, वैदिक काल में तो यहां ऐसी ऐसी अनुपम भक्त रमणियां उत्पन्न हुई थीं जिनका जोड़ा कोई देश उपस्थित करने का साहस ही नहीं कर सकता। बहुत पुरानी बातों को जाने दीजिये ; अपनी वीरता और साहस के लिये इतिहास में प्रसिद्ध चित्तौर राज्य की रानी मीरा बाई के चरित्र और भक्ति की आलोचना इस लेख में की जायगी।

हिमावृत हिमालय के शिखर से लेकर कन्याकुमारी के कोनेतक और सिन्धु तथा ब्रह्मपुत्र के बीच में बसनेवाला भारत का बच्चा बच्चा मीरा बाई के नाम से परिचित है। श्रीकृष्ण के भक्त तो

मीरा बाई को अपना आदर्श ही मानते हैं, और उनके बनाये भजन महाराष्ट्र, राजपूताना आदि भारत के सभी प्रदेशों में गाये जाते हैं। चित्तौर में तो उनके इष्ट-देव "रणछोड़ जी" की प्रतिमा के साथ साथ उनकी भी पूजा होती है।

मीरा बाई मारवाड़के राठौर वीर रतिया राना की पुत्री थीं। १४२० ई० में उनका जन्म मेराता नामक ग्राम में हुआ था। बाल्य काल से ही वह श्रीकृष्ण की प्रेमी थीं। वह एक बड़ी ही सुन्दर और सुशील रमणी थीं। वह गाती भी बहुत अच्छा थीं, उनके कण्ठरव की सुमधुर ध्वनि से उनके पड़ोस के सभी लोगों का मन खिंच जाता था, यहाँ तक दशा होती थी कि जब वह हरि-भजन करने लगती थीं तो जिनके कान में उनके शब्द पड़ते थे वे नरनारी अपना कामधाम छोड़ उसे सुनते ही रह जाते थे। कहां तक कहें, छोटे छोटे बच्चे अपना खेल भी छोड़ उनका संकीर्तन सुनने में ऐसे व्यस्त हो जाते थे कि उन्हें और किसी बात की सुधबुध ही नहीं रहती थी। राजपूताने के दूर दूर भागों से मनुष्य उनका हरिकीर्तन सुनने आया करते थे और सभी उनके कण्ठ के सुमधुर स्वर से मोहित हो जाते थे। उनके नेत्रोंमें वह स्वर्गीय ज्योति-उनके हृदय में वह भक्ति तथा भजनों में वह मर्मस्पर्शिनी शक्ति थी कि लोग उन्हें कोई देवी या वृन्दावन की गोपी का अवतार समझने लग गये थे।

मीरा बाई की सुन्दरता और उनके कण्ठ की मधुरता की चर्चा धीरे धीरे एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के द्वारा वर्णित होते हुए चित्तौर के राना कुम्भ तक पहुंच गई। उन्हें मीरा बाई को देखने की इच्छा उत्पन्न हुई, अतः एक दिन भेष बदलकर वे चित्तौर से मेराता पहुंचे। मीरा बाई की सुन्दरता और उनकी मधुर ध्वनि ने उन्हें ऐसा मोहित कर लिया कि वे जल्दी चित्तौर लौटना ही

नहीं चाहते थे और अपने ठहरने के लिये कोई न कोई बहाना ढूंढ़ निकालते थे। जब रहते रहते बहुत दिन बीत गये तो एक दिन उन्होंने मीरा बाई के पिता से मीरा का विवाह अपने साथ कर देने की चर्चा चलाई। मीरा बाई के पिता को जब मालूम हुआ कि आगन्तुक चित्तौर के प्रसिद्ध राना कुम्भ हैं तो उन्होंने बड़े आनन्द पूर्वक यह सम्बन्ध करना स्वीकार कर लिया। शुभ मुहूर्त में मीरा बाई का विवाह राना कुम्भ के साथ हो गया और युगल जोड़ी सानन्द चित्तौर चली आई। चित्तौरवासियों ने नव-विवाहित दम्पती का बड़े आनंद पूर्वक स्वागत किया।

मीरा बाई के हृदय में प्रतिदिन श्रीकृष्ण के प्रेम की मात्रा बढ़ती ही गई। उन्हें सांसारिक झगड़े पसन्द नहीं आते थे, वह उनसे विरक्त होकर ईश्वर-भजन में ही लगी रहती थीं। वह इन्द्रियों के क्षणिक सुख को प्रायः भूल सी गईं; इससे राना को कुछ कष्ट भी हुआ। राना स्वयं कवि थे अतः इस विचार से कि कविता के द्वारा मीरा बाई का मन सांसारिक विषयों की ओर आकृष्ट होगा उन्होंने मीरा बाई को कविता करना सिखाया पर इसका भी फल उलटा ही हुआ। कविता सीखते ही वह तुरन्त भजन बनाने लगीं। राना तो तरह तरह के साधनों से उनका मन सांसारिक विषयों की ओर खींचना चाहते थे और वह अपने हरि-भजन से संसार को अपनी ओर खींच निवृत्ति-मार्ग की ही ओर अग्रसर होती जाती थीं। इससे राना के मन में अश्रद्धा और डाह के भाव उत्पन्न होने लगे और वे जिस मीरा को किसी समय बड़े प्रेम की दृष्टि से देखते थे उसीसे घृणा करने लगे। एक दिन भक्त-वत्सल भगवान ने स्वप्न में राना को ईश्वर-भक्ति के आनन्द में मग्न होने के कारण सांसारिक

इन्द्रिय-ग्राह्य विषयवासना को तुच्छ समझनेवाली मीरा से घृणा न करने का उपदेश दिया। इस स्वप्न से, कहा जाता है कि, राना के भाव एकदम पलट गये और उन्होंने किले के अन्दर ही रणछोड़जी का एक मन्दिर बनवा दिया। मीरा बाई इसी मन्दिर में चित्तौर के वैष्णवों के साथ गोविन्द का गुणगान करने लगीं। अब राना ने निश्चय कर लिया कि मीरा बाई से वैवाहिक सुख की आशा करना व्यर्थ है। अतः उन्होंने दूसरा विवाह करना का ही उचित समझा। उस समय की रीति नीति के अनुसार उन्होंने जबदस्ती झालावाड़ की राजकुमारी के साथ विवाह कर लिया पर राना इस विवाह से सुखी न हुए, कारण कि राजकुमारी पहले से ही अपना हृदय राजकुमार मन्दर को अर्पण कर चुकी थीं।

मीरा बाई तो अपना समय रणछोड़जी की पूजा और जो भक्त लोग उनके दर्शन के लिये वहाँ आते थे उनकी सेवा में बिताने लगीं। वह आगन्तुक-भक्तों को अपने ही हाथ से भोजन बनाकर जिमाती थीं। एक दिन एक भक्त आया; उसने मीरा की सतत प्रार्थना पर भी भोजन करना स्वीकार नहीं किया। कारण पूछने पर उसने कहा—मैं राजकुमार मन्दर हूं और जब तक मैं अपनी प्रेमिका, झालावाड़ की राजकुमारी को एक बार इन नेत्रों से न देख लूं तब तक कुछ भी भोजन न ग्रहण करूँगा। मीरा ने झट उसकी इच्छा की पूर्ति के लिये राजमहिषी से उसका साक्षात्कार करा दिया। जिसकी खबर पातेही राना क्रोध से आग-बबूला हो गये। उन्होंने मीरा बाई को महल से निकाल दिया और वह राजपूताने की गलियों में भिखारिनी की भाँति घूमने लगीं। मनुष्य के छोड़ देने से क्या होता है! भक्तवत्सल भगवान तो अपने भक्तों की सदा रखवाली किया ही करते हैं। अस्तु, जहाँ ही

मीरा बाई जातीं उनके चारों ओर भक्तों का जमघट सा लगा रहता मानो हरि का नाम राजपूताने की मरुभूमि में सर्वत्र ही गूंज रहा था, पर चित्तौर में उस नाम की मधुर ध्वनि अब कहाँ? चित्तौर में तो न अब वह भक्तों के भोजन करने का दृश्य ही दिखाई देता था और न दूर दूर से आये हुए भक्तों का वहां जमाव ही होता था, चित्तौर तो इन चीजों से सर्वथा खाली और मीरा के वियोग से सर्वथा दुखी मालूम पड़ता था। राना को अपनी भूल मालूम हो गई, उन्होंने जान लिया कि मीरा ने उनके राज्य से कहीं अधिक बड़ा राज्य अपनी उस अनुपम शक्ति के द्वारा जन-साधारण के हृदय में स्थापित कर दिया है जिसकी स्थापना संसार के बड़े से बड़े वीर से सम्भव नहीं। राना ने मीरा को पुनः बुलवा भेजा। जब वह चित्तौर पहुंचीं तो राना ने अपनी भूल स्वीकार करते हुए उनसे अपने अपराध के लिये क्षमा मांगी पर मीरा बाई यह कहते हुए कि 'नाथ मैं तो सदा ही आपकी दासी हूं' राना के पैरों पर गिर पड़ीं! भारत में सर्वत्र ही और राजपूताने में विशेष रूप से पर्दे का रिवाज है। उच्च घराने की कोई स्त्री बिना पर्दे के बाहर नहीं निकलती, फिर राजमहिषी का तो कहना ही क्या! पर मीरा बाई उस दिन से बराबर जन-साधारण के हरि-कीर्तन में बिना किसी पर्दे के सम्मिलित होती थीं। राना साधारण मनुष्यों के साथ मीरा बाई का मिलना यद्यपि पसन्द नहीं करते थे तथापि चित्तौरवासियों के साथ हरि-भजन करने की आज्ञा उन्होंने मीरा बाई को दे रखी थी, जिसमें उनका मन किसी प्रकार खिन्न न हो। ईश्वर के प्रेम की ऐसी अद्भुत शक्ति है कि हरि-भजन में मीरा बाई यह भूल गईं कि मैं रानी हूं। भजन में वह इतना मग्न हो जाती थीं कि उन्हें अपने शरीर की तो क्या, इस

बात की भी सुधबुध जाती रहती थी कि मैं स्त्री हूं।

एक दिन कोई बड़ा राजा भेष बदलकर रणछोड़जी के मन्दिर में मीरा बाई का भजन सुनने आया। मीरा उस समय हरि-कीर्तन कर रही थीं। वह राजा मीरा बाई के ईश्वर-प्रेम और मधुर कण्ठ-स्वर से एकदम मोहित हो गया। जब मीरा बाई ने अपना भजन समाप्त किया तो वह उनके पैरों पर गिर पड़ा और सुख दुःख माया मोह के बन्धन में फँसानेवाले इस संसार से छुटकारा पाने का उपाय पूछा। कुछ देर बातचीत कर जाते समय उसने रणछोड़जी की तुच्छ भेंट स्वरूप एक जवाहिरात की माला मीरा बाई को दी। मीरा बाई ने उस भेंट को स्वीकार कर लिया। उस राजा के आने और माला देने की खबर राना जी के पास पहुंची। उनके मन में भ्रम उत्पन्न हो गया और वह मीरा बाई के चरित्र पर सन्देह करने लगे। पर उनकी मन्द बुद्धि में यह विचार नहीं आया कि जिसने राज्य के सब भोग विलासों को अपने पैर से ठुकरा दिया उसका मन एक जवाहिरात की माला के लोभ में कैसे फंस सकता है। हम दुनिया के सभी लोगों को अपनी दृष्टि से देखते हैं और उनके चरित्र की आलो-चना अपनी स्थिति और अनुमान के अनुसार करते हैं, यही दुनिया के सारे अनर्थों की जड़ है। जब घृणा और डाह का भाव एक बार हृदय में प्रवेश कर जाता है तो वह बड़े बड़े अनर्थ कर डालता है, मनुष्य को पागल बना उसके सारे सुखों को दुःख में परिणत कर देता है। राना ने निश्चय कर लिया कि मीरा बाई ने अपने आचरण से चित्तौर के राजवंश को कलङ्कित कर दिया। फिर क्या था, उनके सारे भाव ही पलट गये। उनकी दृष्टि में मीरा बाई वह ईश्वरभक्ति में विह्वला उपासिका न रहीं, उनकी सारी भक्ति को राना सिर्फ ढोंग समझने लगे। और अपने

दुश्चरित्र को छिपाने के लिये ही उनकी उपासना और कीर्तन का सारा ढोंग होता है, यह उन्होंने स्थिर कर लिया। उन्होंने विचारा कि मीरा तो बुलबुल की बोली बोलनेवाली चील है। इन सब पापों का प्रायश्चित्त सिर्फ लाल रक्त से ही हो सकता है, अतः उन्होंने मीरा का अन्त ही कर डालने का दृढ़ संकल्प कर लिया। राना ने मीरा को सूली पर चढ़ा देने की आज्ञा दे दी पर मीरा की लोकप्रियता के कारण कोई उसे पूरा करने के लिये तैयार नहीं हुआ; अतः राना ने एक पत्र में मीरा को जल में डूब कर मर जाने की आज्ञा लिख भेजी। इस पत्र को एक नौकर ने जब वह मन्दिर से लौट रही थीं उनके हाथ में दिया। मीरा बाई ने नौकर से कहा—रानाजी से जाकर कह दो कि मैं उनकी आज्ञा को, जैसा एक हिन्दू रमणी का कर्तव्य है, शिरोधार्य करती हूं। आधी रात को जब प्रकृति स्तब्ध थी, सारा संसार निद्रा देवी की गोद में पड़ा था, दिशायें शब्दहीन थीं, मीरा बाई चुपके से उठकर महल के बाहर निकल गईं। उनके जाने की किसी को खबर भी नहीं हुई। आकाश साफ था, तारे चमक रहे थे। वह नदी के किनारे पहुंचीं और उसकी तीक्ष्ण धारा में झम से कूद पड़ीं। ज्यों ही वह पानी में गिरीं, वह संज्ञाहीन हो गईं। पर उसी समय उन्होंने एक दीप्तिमान ज्योति अपने नेत्रों के सामने देखी; मानो वृन्दावन निवासी गोपाल कह रहे हैं—"मीरा, तुमने अपने पति की आज्ञा का तो पालन कर दिया पर तुम्हें इससे भी कई महत्वशाली काम करने हैं, अतः संसार को उपदेश देने के लिये तुम उठो और जीवित रहो।" जब मीरा को चैतन्य हुआ तो उन्होंने अपने को किनारे पर पड़ा पाया। उस ज्योति के आदेश को स्मरण कर वह हरि-भजन करते करते धीरे धीरे वृन्दावन पहुंचीं।

वृन्दावन में एक बड़े वैष्णव भक्त रूप गोस्वामी नामक थे। वह कांचन और कामिनी से विरक्त थे। न तो किसी स्त्री की ओर ताकते थे और न रुपये पैसे में हाथ ही लगाते थे। जब मीरा उनके दर्शन करने गईं तो उन्होंने इन्कार कर दिया। इस पर मीरा बाई ने कहला भेजा कि "वृन्दावन में तो एक ही पुरुष है, अर्थात् श्रीकृष्ण, और शेष तो सब गोपियां ही हैं। यदि गोस्वामीजी अपने को पुरुष समझते हैं तो उन्हें तुरन्त वृन्दावन के बाहर चले जाना ही उचित है कारण कि वृन्दावन तो सिर्फ गोपियों का ही निवास-स्थान है। गोस्वामीजी मीरा की भक्ति देखकर चकित हो गये। उन्होंने जान लिया यह साधारण स्त्री नहीं है। तुरन्त मीरा बाई को अपने मन्दिर में बुला भेजा। उसी दिन से इन दोनों में प्रेम का सम्बन्ध स्थापित हो गया और एक दूसरे को अपना गुरु समझने लगे।

मीरा बाई के वृन्दावन पहुंचने की खबर राजपूताने भर में फैल गई। फिर चित्तौर के निवासियों का एक बड़ा दल मीरा बाई के निकट एकत्रित हो गया और राणा को पुनः अपनी भूल ज्ञात हुई। वे भेष बदलकर वृन्दावन पहुंचे। मीरा बाई के पास आकर उन्होंने क्षमा मांगी। मीरा बाई उनके पैरों पर गिर पड़ीं और कहा "स्वामिन्! मैं अपराधिनी हूं आप ही मेरे अपराधों को क्षमा करें कारण कि मैं तो वही आपकी दासी हूं।" राना फिर उन्हें चित्तौर लिवा लाये पर उस समय से वह छ महीने चित्तौर और छ महीने वृन्दावन रहने लगीं।

मीरा बाई की मृत्यु के सम्बन्ध में भी बहुत सी किम्वदन्तियां प्रसिद्ध हैं। सब से प्रसिद्ध उपाख्यान है कि जब मीरा बाई भजन कर रही थीं तो द्वारिकाजी में श्रीकृष्णचन्द्र की मूर्ति

के दो भाग हो गये और भक्त की आत्मा उस अक्षय आनन्द-प्राप्ति के लिये उसी में अन्तर्धान हो गई। भक्त को ईश्वर में ही लीन होने से शान्ति मिलती है।

ऊपर एक ऐसी जीवात्मा की सांसारिक लीला का अतिशयोक्तिको स्थान न देकर अक्षरशः सत्य वर्णन किया गया है जिसके इहलौकिक जीवन का प्रतिक्षण ईश्वर की भक्ति ही में बीता था। ये जीवात्मायें इस संसार में जहाँ कि सभी चीजें, चाहे वे स्थावर हों वा जगम, चेतन्य हों या चेतन्यहीन, उस परमब्रह्म की ही प्रतिमूर्ति है, उस परमपद को छोड़कर लोक-शिक्षा के लिये कभी कभी अवतीर्ण होती हैं।

वर्तमान भारत

[स्वामी विवेकानन्द।]

(गतांक से आगे।)

मुसलमानों के समय में इस शक्ति का फिर सिर उठाना असम्भव था। महम्मद साहब स्वयं इसके विरोधी थे। उनने इसे समूल नष्ट करने के लिये पूरी चेष्टा की थी और इसके लिये नियम आदि भी बना गये थे। मुसलमानों के राज्यकाल में राजा स्वयं प्रधान पुरोहित होता था। वही धर्मगुरू (खलीफा) होता था और सम्राट् होने पर प्रायः सारे मुसलमान जगत के नेता होने की आशा रखता था। इन मुसलमानों के निकट यहूदी या ईसाई अधिक घृणा के पात्र नहीं, वे केवल अल्प-विश्वासी ही थे, पर हिन्दू लोग काफिर और मूर्तिपूजक होने से इस जीवन में बलिदान और मृत्यु के बाद अनन्त नर्क के भागी समझे जाते थे। इन्हीं काफिरों के धर्मगुरुओं अर्थात् पुरोहितों को किसी प्रकार जीवन धारण करने की आज्ञा मात्र मुसलमानराजा दया से दे

सकते थे ; वह कभी कभी, नहीं तो जहां राजा की धर्म प्रियता की मात्रा जरा भी बढ़ी कि काफिरों की हत्यारूपी महा यज्ञ का आयोजन हो जाता था।

एक ओर राजशक्ति अब विधर्मी राजाओं में आई और दूसरी ओर पुरोहित-शक्ति अब समाज-शासन के ऊँचे पद से गिर गई। कुरान की दण्डनीति अब मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों के स्थान पर आ डटी! अरबी और फारसी भाषाओं ने संस्कृत की जगह ली। संस्कृत भाषा अब विजित और घृणित हिन्दुओं के धार्मिक कामों के ही काम की रही और पुरोहितों के हाथ में सन्दिग्ध जीवन धारण करने लगी। पुरोहित-शक्ति अब विवाह आदि संस्कार कराकर ही सन्तोष मानने लगी और यह भी मुसलमान राजाओं को कृपा दृष्टि रहने तक ही।

पुरोहित-शक्ति के दबाव के कारण राजशक्तिकी स्फूर्ति वैदिक काल में और उसके कुछ दिनों बाद तक न हो सकी थी। हमलोग देख चुके हैं कि बौद्ध-विप्लव के बाद किस प्रकार पुरोहित शक्ति को विनाश के साथही राजशक्ति का पूर्ण विकाश हुआ। हमलोग यहभी देख चुके हैं कि बौद्धसाम्राज्य के पतन और मुसलमान साम्राज्य की स्थापना के मध्यवर्त्ती काल में राजपूतों द्वारा राजशक्ति ने फिर सिर उठाना चाहा था, परन्तु विफल-मनोरथ हुई, क्योंकि पुरोहित-शक्ति ने इस समय फिर नया जीवन पाने की चेष्टा की थी।

मुसलमान राजाओं ने पुरोहित शक्ति को दबाकर ही मौर्य गुप्त, आन्ध्र, क्षात्रप * आदि राजाओं की नष्ट हुई गौरव श्री का बहुत कुछ उद्धार किया था।

* आर्यावर्त और गुजरात के फारस से आये हुए सम्राट्।

इस प्रकार भारत की पुरोहित-शक्ति जिसे कुमारिल, शङ्कर, रामानुज आदि फिर स्थापित करना चाहते थे, जिसकी रक्षा राजपूतों के समय में उनके खड्ग से हुई थी और जिसने बौद्धों और जैनों का संहार कर पुनर्जीवन प्राप्त करने की चेष्टा की थी ; वही शक्ति मुसलमान काल में मानो सदा के लिये सो गई। इस समय पुरोहित और राजा में वैर विरोध नहीं रहा वरन् राजा और राजा में। इस काल के अन्त में जब हिन्दुओं ने अपना सिर फिर उठाया और हिन्दूधर्म की ध्वजा महाराष्ट्रों और सिक्खों द्वारा फिर फहराने लगी तो इस बार इस पुनःस्थापना से पुरोहित-शक्ति का विशेष सम्बन्ध नहीं था। सिक्खलोग तो जब किसी ब्राह्मण को अपने सम्प्रदाय में लेते थे तो उससे स्पष्ट रूप से ब्राह्मण-चिह्न परित्याग कराकर उसे अपने धर्म-चिह्न से भूषित करते थे।

इस प्रकार इन दो शक्तियों के अनेक घातों और प्रतिघातों के बाद राजशक्ति की अन्तिम जय यहाँ विधर्मी राजाओं के समय में कई शताब्दियों तक होती रही परन्तु इस युग के अन्त में एक नई शक्ति धीरे धीरे इस देश में अपना प्रभाव फैलाने लगी।

यह शक्ति भारतवासियों के लिये ऐसी नई है और इसका जन्म कर्म इतना कम समझ में आता है कि भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक इसके राज्य करने पर भी थोड़े ही भारतवासी समझते हैं कि यह कौन शक्ति है।

यह बात भारत पर इङ्गलिस्तान के अधिकार की है।

इस देश का धन और हरा भरा खेत विदेशियों के मन में सदा से अधिकार की लालसा उत्पन्न करता आ रहा है। यह विशाल देश विजातियों द्वारा अनेक बार पददलित हुआ है। फिर हम लोग इस पर इङ्गलिस्तान के अधिकार को नया क्यों कहते हैं?

भारतवासियों ने सांसारिक स्पृहाशून्य और पर्ण कुटियों में रहनेवाले तपस्वियों के सामने गर्वीले राजाओं का काँपना अवश्य देखा था। फिर राजाओं के सामने प्रजा का—सिंह के सामने बकरियों की भांति—सिर झुकाये खड़ा रहना भी अवश्य देखा था, पर धनवान होकर भी जो वैश्य, राजाओं की कौन कहे, राजकुटुम्बियों तक के सामने सदा हाथ जोड़े खड़े रहते थे, उन्हींमें से कुछ लोगों का साथ मिलकर व्यापार करने की इच्छा से सात समुद्र पारकर यहां आना और अपनी बुद्धि से धीरे धीरे हिन्दू मुसलमान राजाओं को अपने हाथ की कठपुतलियां बना लेना और उनसे अपना दासत्व स्वीकार कराकर उनको शूरता और विद्या-बल को धन उपार्जन करने की अपनी कल बना रखना, और जिस देश के कवि-सम्राट् की लेखनी द्वारा चित्रित गर्वित लार्ड एक साधारण व्यक्ति से कहता है कि "दूर हो नीच! तू एक कुलीन के शरीर को छूने का साहस करता है!"—उसी देश के उन्हीं कुलीनों के वंशजों का थोड़े ही समय में ईस्ट इण्डिया कम्पनी नाम के वणिक-दल के आज्ञाकारी दास बनकर भारत में आने को परम गौरव समझना भारतवासियों ने कभी नहीं देखा था।

सत्त्व रज आदि तीन गुणों के तारतम्य से ब्राह्मण क्षत्रिय आदि चार वर्ण उत्पन्न होते हैं और चारो वर्ण अनादि काल से सभी सभ्य समाज में विद्यमान हैं। कालचक्र से और देशभेद से किसी वर्ण की शक्ति वा संख्या दूसरों की शक्ति और संख्या से बढ़ वा घट जा सकती है, परन्तु संसार के इतिहास का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि प्राकृतिक नियमों के वश प्रत्येक वर्ण क्रम से पृथ्वी भोग करेगा।

चीनी, सुमेरी, बाबुली, मिस्री, खलदिया-निवासी, आर्य,

ईरानी, यहूदी और अरबी आदि जातियों में समाज के नेता प्रथम युग में ब्राह्मण वा पुरोहित थे। दूसरे युग में क्षत्रियों का अर्थात् राजकुल वा एकाधिकारी राजाओं का अभ्युत्थान हुआ। वैश्यों के वा वाणिज्य से धनवान होनेवाले सम्प्रदाय के हाथों में समाज का शासन-सूत्र पहले पहल इङ्गलिस्तान प्रमुख पाश्चात्य देशों में आया है।

यद्यपि प्राचीन ट्राय और कार्थेज और उनकी अपेक्षा अर्वाचीन वेहेनिस और अन्य छोटे छोटे वाणिज्य-परायण देश बड़े ही प्रतापशाली हुए थे तो भी वैश्यों का यथार्थ अभ्युत्थान इन देशों में नहीं हुआ था।

पुराने समय में राज घराने के लोग ही नौकरों और अन्य साधारण लोगों द्वारा वाणिज्य कराते थे। इन इने गिने मनुष्यों को छोड़कर दूसरा कोई राजकार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। मिस्र आदि प्राचीन देशों में ब्राह्मण-शक्ति थोड़े ही समय तक प्रधान-शक्ति रही। अनन्तर वह राज-शक्ति के अधीन हो उसकी सहकारी बनकर रहने लगी। चीन में कंफ्यूसियस * द्वारा गढ़ी हुई राज-शक्ति ढाई हजार वर्षों से पुरोहित-शक्ति को अपने इच्छानुसार चलाती आ रही है। गत दो सौ वर्षों से तिब्बत के सर्वग्रासी लामा लोग राजगुरु होकर भी सब प्रकार से चीनी सम्राट् के अधीन होकर दिन काट रहे हैं।

भारत में राज शक्ति की जय और उन्नति दूसरे पुराने सभ्य देशों से बहुत दिनों बाद हुई। इसलिये मिस्त्री, बाबलूनी और चीनी साम्राज्यों के बहुत दिनों बाद भारत-साम्राज्य स्थापित हुआ। एक यहूदी जाति में राज-शक्ति अनेक चेष्टा करने पर भी पुरोहित-शक्ति पर अपना अधिकार न जमा सकी। वैश्य

* Confucius—चीन देश का एक प्राचीन धर्म और नीति संस्कारक।

वर्ण तक ने उस देश में प्राधान्य प्राप्त न कर पाया । प्रजा ने पुरोहितों के बन्धनों से छूटने की चेष्टा की थी । परन्तु भीतर में ईसाई आदि धर्म-सम्प्रदायों के संघर्ष से और बाहर में बलवान रोम साम्राज्य के दबाव से वह मृतप्राय हो गई ।

जिस प्रकार पुराने समय में राज-शक्ति के सामने ब्राह्मण-शक्ति को हार माननी पड़ी, उसी प्रकार आज कल के समय में वैश्य-शक्ति के सामने राज-शक्ति को भी सिर झुकाना पड़ा । इस नई वैश्य-शक्ति के प्रबल आघात से कितने ही राजमुकुट धूल में जा मिले और कितने ही राजदण्ड सदा के लिये टूट गये । जो कई सिंहासन अभी सभ्य देशों में विद्यमान है वह इन्हीं नमक, तेल, चीनी वा सुरा बेचनेवालों के कमाये धन से अपने अपने देश का गौरव दिखाने के लिये सजा कर रखे गये हैं ।

जिस नई शक्ति का राजपथ पहाड़ों जैसी ऊंची तरंगोंवाला समुद्र है, जिसके प्रभाव से बिजली बात की बात में बात ले जाती है, जिसकी आज्ञा से एक देश का माल दूसरे देश में सुभीते से भेजा जाता है और जिसके आदेश से सम्राट्कुल भी थर थर काँपता है उसी वैश्य-शक्ति के बल पर इङ्गलिस्तान का सिंहासन विराजमान है । इसलिये भारत पर इङ्गलिस्तान की विजय—जैसा हम लोगों को विश्वास दिलाया जाता है—ईसामसीह वा बाइबल की विजय नहीं है, और न पठान मुगल बादशाहों की विजय की भांति ही है । वरन् इङ्गलिस्तान पर ही ईसामसीह, बाइबल, राज-प्रासाद, सिंहासन के आडम्बर आदि विद्यमान हैं । उस इङ्गलिस्तान की ध्वजायें पुतलीघरों की चिमनियां हैं, उसके सैनिक उसके व्यापारी लोग हैं, उसका लड़ाई का मैदान संसार का बाजार है और उसकी रानी स्वयं स्वर्णाङ्गिनी लक्ष्मी है ।

इसीलिये ऊपर कहा है कि भारत पर इङ्गलिस्तान का अधिकार एक नया व्यापार है । इस नई महाशक्ति के संघर्ष से कौन कौन नये विप्लव और कौन कौन नये परिवर्तन होंगे यह कहना कठिन है । भारत के पूर्वकालिक इतिहास से इसका अनुमान करना भी कठिन है । (क्रमशः)

अनुवादक—श्रीरघुनाथ सहाय ।

विविध विषय ।

स्वामी विवेकानन्द की जयन्ती ।

गत १६ वीं जनवरी को श्रीरामकृष्ण सङ्घ के प्रधान केन्द्र बेलूड़मठ में श्रीमत् स्वामी विवेकानन्दजी की ६० वीं जयन्ती बड़े समारोह के साथ मनाई गई । उस दिन मठ में सर्वत्र मानो उत्साह और आनन्द की धारा बह रही थी । प्रातःकाल १० बजे से ही भक्त बहुत बड़ी संख्या में एकत्र होने लग गये और २ बजते बजते तो मानो भक्तों का समुद्र ही उमड़ पड़ा । रात दिन पूजा घर में विशेष रूप से पूजा होती रही और हवन भी हुआ । उत्सव की खास विशेषता थी बुभुक्षित दरिद्र नारायण को भोजन प्रदान । लगभग २००० दरिद्र नारायणों को उत्तमोत्तम पदार्थ भली भांति भोजन कराया गया । लगभग इतने ही प्रतिष्ठित भक्तों ने भी प्रसाद पाया । भजन की सुमधुर ध्वनि ने भक्तों के मन को इस भाँति मोह लिया था मानो वे तन्मय हो गये थे । अपराह्न में श्रीयुत सत्येन्द्रनाथ मजुमदार ने बँगला भाषा में एक निबन्ध पढ़ा और श्रीयुत स्वामी अभेदानन्दजी ने स्वामी विवेकानन्दजी की उच्चहृदयता, सर्वसाधारण से प्रेम और अनुपम स्वदेशभक्ति आदि अलौकिक गुणों का विशद वर्णन किया । सायंकाल में भक्त प्रसन्नवदन अपने अपने घर लौट गये ।

ब्राह्म मुहूर्त में मठ के अध्यक्ष महाराज ने १२ युवकों को ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी ।

भारतवर्ष में अद्वैताश्रम काशी, मुट्ठीगञ्जमठ प्रयाग, सेवाश्रम कनखल, मद्रास तथा बङ्गलोर के मठ, आदि श्रीरामकृष्ण संघ के शाखा केन्द्रों में तथा भारत के बाहर सान फ्रान्सिस्को की वेदान्त सोसायटी, बोष्टन, न्यूयार्क आदि स्थानों में भी बड़े

धूम धाम से उत्सव मनाये गये जिनका संक्षिप्त विवरण प्राप्त होने पर प्रकाशित किया जायगा ।

इन उत्सवों से स्वामी विवेकानन्द के प्रति बढ़े हुए सर्व साधारण के प्रेम का खासा परिचय मिलता है। इससे यह भी अनुमान होता है कि शीघ्र ही वह दिन भी हम लोगों के नेत्रों के सामने आवेगा जब स्वामीजी की भक्ति सर्वसाधारण के हृदय में पूर्ण रूप से व्याप्त हो जायगी और जनता उनका वैसा ही आदर करने लगेगी जैसा आदर ऐसे महापुरुषों का होना चाहिये ।

संक्षेप में, स्वामीजी ने जो उच्च कोटि की धर्मानुभूति प्राप्त की उसे अपने जीवन में मनुष्यजाति के आध्यात्मिक कल्याण में लगा दिया। उनके जीवन की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है। संसार में, विशेषतः भारतवर्ष में क्या घटनाचक्र घूमनेवाला है इसका अनुभव उनकी तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि ने उन्हें करा दिया था। अपनी दृष्टि से जो कुछ उन्होंने देखा उसे स्पष्ट और प्रभावशाली शब्दों में जनता के सामने प्रकट कर दिया। उन्होंने सबको शुद्ध, स्वार्थहीन, संगठित होने और प्रेम से दूसरों की सेवा करने का उपदेश दिया है। मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाना ही उनका उपदेश था, चुपचाप शान्त भाव से काम करना वह पसन्द करते थे, अपनी महत्वपूर्ण विशेषताओं को एकदम भुलाकर वे छोटे से छोटे मनुष्य के साथ भाई सरीखा व्यवहार करते थे, अर्थात् मनुष्य समाज में वह आदर्श पुरुषरत्न थे। यद्यपि उनकी सांसारिक लीला का सवरण हुए अभी २० वर्ष ही हुए हैं तथापि स्पष्ट अनुमान होता है कि भारतवर्ष अपने सच्चे सपूत, देशभक्त और वर्तमान युग के मंत्रदर्शी महापुरुष का अच्छा आदर कर रहा है।

विद्यार्थी-भवन ।

स्थानीय कारपोरेशन स्ट्रीट में "श्रीरामकृष्ण मिशन स्टूडेण्ट्स् होम" नामक एक विद्यार्थी-भवन है। वहां कतिपय गरीब कालेज के छात्रों के रहने का प्रबन्ध है। जिन्हें शारीरिक, मानसिक, नैतिक और धार्मिक शिक्षा देकर आदर्श पुरुष बनाने का प्रयत्न किया जाता है। खर्च देकर इन शिक्षाओं का लाभ उठाने के लिये रहने का भी थोड़े से विद्यार्थियों के लिये प्रबन्ध है। अभी यह 'विद्यार्थी-भवन' एक किराये के मकान में है जिसमें आठ से अधिक विद्यार्थियों को रखने का स्थान ही नहीं है। इस भवन के पास जो धन है उससे सात से अधिक विद्यार्थियों का भरण पोषण नहीं हो सकता। इस विद्यार्थी-भवन को निज के मकान और इतने कोष की, जिससे कम से कम २० विद्यार्थियों का भरण पोषण हो सके, अत्यन्त आवश्यकता है। साथ ही कलकत्ते के आस पास ही थोड़ी सी भूमि और एक अलग कोष की भी आवश्यकता है जिसमें विद्यार्थियों को उद्योग धन्धों की शिक्षायें दी जा सकें। आशा है कि उदार देशप्रेमी इस भवन की ओर भी दया का हाथ बढ़ाकर अपनी दानशीलता का परिचय देंगे। सहायता निम्न लिखित पते पर भेजी जानी चाहिये :—ब्रह्मचारी अनादिचैतन्य, मंत्री श्रीरामकृष्ण मिशन स्टुडेण्टस् होम, ११६।१ कारपोरेशन स्ट्रीट, कलकत्ता ।

गंगासागर मेला ।

इस वर्ष श्रीरामकृष्ण संघ ने एक सुयोग्य डाक्टर के निरीक्षण में ३४ औषधि-विभाग के कार्यकर्ताओं, कुछ ब्रह्मचारियों और साधुओं को गंगा सागर भेजा। इन लोगों ने चार अलग अलग स्थानों में मेले के यात्रियों को औषधि देने और उनकी चिकित्सा करने का

प्रबन्ध किया था। ये लोग डिस्ट्रिक् बोर्ड के कर्मचारियों के साथ मिलकर हैज़े से पीड़ित यात्रियों की चिकित्सा कर रहे थे। यह प्रबन्ध ३ दिन तक था। इन तीन दिनों में प्रत्येक स्थान से प्रतिदिन २०, २० आदमियों ने दवायें लीं। इनके अतिरिक्त १५ हैज़े और आंव के रोगियों की चिकित्सा की गई, जिनमें से ४ तो वहीं मर गये, शेष डायमण्ड हारबर की अस्पताल में लाये गये।

इन लोगों ने भूले भटकों के खोजने का भी प्रबन्ध किया था। इस विभाग के द्वारा १०० भूले भटके अपने अपने स्थान पर पहुंचाये गये। कुछ गरीबों को आर्थिक सहायता भी दी गई। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, सेंट जान अम्बुलेंस, बजरंग परिषद, मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी, मारवाड़ी सहायक समिति, खिदिरपुर रिलीफ पार्टी और पुलिस के कर्मचारियों ने मिशन के कार्यों में जो सहानुभूति दिखाई और हाथ बटाया उसके लिये मिशन के कार्य-कर्त्ता उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकाश करते हैं। मिशन बट-कृष्ण पाल के सोभाबाजार विभाग का भी अत्यन्त अनुगृहीत है जिसने कृपापूर्वक बिना मूल्य दो बण्डल दवायें तथा कुछ यंत्र दिये। इस कार्य में कुल ३०० से कुछ अधिक रुपये व्यय हुए। मिशन को दृढ़ आशा है कि दानशील उदार सज्जन मिशन के स्थायी कोष में जिसके द्वारा इस प्रकार के कार्य समय समय पर होते रहते हैं दान देकर इन कार्यों को सदैव के लिये स्थायी बना देंगे। सहायता नीचे लिखे पते पर भेजी जानी चाहिये। अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण मिशन, बेलूड़ (हवड़ा); मन्त्री, श्रीरामकृष्ण मिशन, नं० १ मुकुर्जी लेन, बागबाजार, कलकत्ता।